

# समरथ



अप्रैल-जून, 2022 ♦ नई दिल्ली

दस कुओं के बराबर एक बावड़ी होती है, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब,  
दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष होता है।  
-मत्स्य पुराण-



॥केवल एक पृथ्वी है॥  
विश्व पर्यावरण दिवस

जितना लें  
उतना  
लौटाएं

समझदारी  
और सीख  
यही है कि  
पूरी दुनिया  
धुन के साथ  
मानव निर्मित  
पर्यावरण के सुधार में  
ईमानदारी और  
प्रतिबद्धता के साथ  
जुट जाए,  
ताकि  
कुदरत के घरोंदे  
भी बचें  
और हमारी आर्थिक,  
सामाजिक व  
निजी खुशियां भी।  
प्रकृति निर्मित ढांचों  
और  
मानव निर्मित ढांचों  
के बीच संतुलन तो  
साधना ही होगा।  
इस संतुलन को  
साधने का  
मूल सूत्र वाक्य  
एक ही है -  
कुदरत से जितना  
और जैसा लें,  
उसे कम से कम  
उतना और  
वैसा लौटाएं।  
वरना याद रखें कि  
प्राकृतिक संकट  
अकेले नहीं आते,  
बीमारी, बेकारी,  
ग़रीबी, अनैतिकता  
और अपराध को  
संग लाते हैं।

# नाहि तो जन्म नसाई

गलवान घाटी में चीन के अतिक्रमण में लगभग 20 भारतीय सैनिकों की दर्दनाक शहादत को पिछले हफ्ते दो साल पूरे हो गए। इस पूरी मुद्दत में सीमा पर परिस्थितियों में कोई विशेष तबदीली नहीं आई है और चीन के आक्रमक रवैये को देखते हुए भारत भी इस क्षेत्र में बुनियादी ढांचों और सेना के आधुनिकीकरण के लिए वह सारे आवश्यक कदम उठा रहा है, जो देश की सुरक्षा और उसकी क्षेत्रीय अखंडता के लिए अनिवार्य हैं। हमारे पिछले अनुभव भी यही बताते हैं कि इस संदर्भ में किसी तरह की मामूली ढील भी हमारे लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

चीन ने भारत पर 1962 में आक्रमण किया था। जिसके बाद से लेकर अब से दो वर्ष पहले तक दोनों देशों के बीच सीमा विवाद बेशक मौजूद रहे हैं और चीन हमारे कुछ क्षेत्रों पर नाजायज ढंग से अपने दावे ठोकता रहा है लेकिन इसके बावजूद दोनों देशों के बीच 60 वर्षों तक सीमा पर तनाव के ऐसे अवसर कम ही पैदा हुए हैं जब दोनों के बीच सीधे टकराव की नौबत आ जाए। दोनों लगभग चार हजार मील लंबी सीमा पर गश्ती टुकड़ियों को निशस्त्र रखने की वचनबद्धता पर न सिर्फ कायम रहे हैं बल्कि दोनों के बीच व्यापारिक संबंध भी निरंतर बेहतर होते रहे हैं जिसके कारण चीन हमारा एक बड़ा व्यापारिक साझेदार बनकर उभरा है और इस समय हमें फर्टिलाइजर सप्लाई करने वाला सबसे बड़ा देश है। परंतु गलवान की घटना ने आर्थिक दृष्टि से हमारी समस्याएं बढ़ा दी हैं और एक ऐसे देश के लिए जिसकी जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा गरीबी की दलदल से निकलने के लिए प्रयास कर रहा हो, एक बड़ा धक्का है। क्योंकि वह सारे संसाधन जो किसी क्षेत्र की भलाई और उन्नति के लिए उपयोग में आने चाहिए, वह सुरक्षा संबंधी प्रयासों में खर्च होंगे। निश्चित रूप से इस परिस्थिति के लिए हम जिम्मेवार नहीं बल्कि एक बड़ी शक्ति की महत्वाकांक्षा ने यह परिस्थिति पैदा की है।

विश्व के एक और भाग में बड़ी शक्तियों की महत्वाकांक्षाओं ने एक बड़े क्षेत्र को जंग में झोंक दिया है और पूर्वी यूरोप के देश यूक्रेन में रूस के हमलों से, जिसका आरंभ चार महीने पहले हुआ था, न सिर्फ विश्व शांति खतरे में पड़ गई है बल्कि पूरी दुनिया एक ऐसे भयानक संकट की चपेट में है जिसके आर्थिक दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं। चिंता की बात यह है कि लड़ाई को रोकने के लिए विभिन्न स्तरों पर जैसे ठोस और सार्थक प्रयास होने चाहिए वे दिखाई नहीं देते। ऐसा लगता है कि यूक्रेन के, जिसके हजारों नागरिक हताहत हो चुके हैं और जिसके नगर के नगर खंडहर बनते जा रहे हैं, हथियार डालने की सूरत में ही युद्ध बंद हो सकता है। समझ में नहीं आता कि पहले और दूसरे विश्व युद्ध के व्यापक विनाश का सीधा अनुभव रखने वाले देश आज भी अपने वर्चस्व को सिद्ध करने के लिए खून बहाने के हजारों वर्ष पुराने फॉर्मूले का अनुसरण क्यों कर रहे हैं और अब तक क्यों ये नहीं समझ सके कि

जंग तो खुद ही एक मसअला है  
जंग क्या मसअलों का हल देगी  
आग और खून आज बख्शोगी  
भूक और एहतयाज' कल देगी।

1. (आवश्यकताएं)

## 2 • समरथ

अप्रैल-जून, 2022



## विस्लावा शिम्बोस्का

कवयित्री, निबंधकार, अनुवादक  
नोबेल पुरस्कार विजेता, 1996

## नफ़रत

देखो, तो अब भी कितनी चुस्त-दुरुस्त और पुरअसर है  
हमारी सदी की नफ़रत,  
किस आसानी से चूर-चूर कर देती है  
बड़ी-से-बड़ी रुकावटों को!  
किस फुर्ती से झपटकर  
हमें दबोच लेती है!

यह दूसरे जज़्बों से कितनी अलग है...  
एक साथ ही बूढ़ी भी और जवान भी।  
यह खुद उन कारणों को जन्म देती है  
जिनसे पैदा हुई थी।  
अगर यह सोती भी है तो हमेशा के लिए नहीं,  
निद्राहीन रातें भी इसे थकाती नहीं,  
बल्कि और तर-ओ-ताज़ा कर जाती हैं।

यह मज़हब हो या वह जो भी इसे जगा दे।  
यह देश हो या वह जो भी इसे उठा दे।  
इंसाफ भी तभी तक अपनी राह चलता है  
जब तक नफ़रत इसकी दिशा नहीं बदल देती।  
आपने देखा है इसका चेहरा  
...कामोन्माद की विकृत मुद्राओं वाला चेहरा।

ओह! दूसरे जज़्बात इसके सामने  
कितने कमज़ोर और मिमियाते हुए नज़र आते हैं।  
क्या भाई-चारे के नाम पर भी किसी ने  
भीड़ जुटाई है?

क्या करुणा से भी कोई काम पूरा हुआ है?  
क्या संदेह कभी किसी फ़साद की जड़ बन सका है?  
यह ताकत सिर्फ़ नफ़रत में है।  
ओह! इसकी प्रतिभा!  
इसकी लगन! इसकी मेहनत!

कौन भुला सकता है वे गीत  
जो इसने रचे?  
वे पृष्ठ जो सिर्फ़ इसकी वजह से  
इतिहास में जुड़े!  
वे लार्शें जिनसे पटे पड़े हैं  
हमारे शहर, चौराहे और मैदान!

मानना ही होगा,  
यह सौंदर्य के नए-नए आविष्कार कर सकती है,  
इसकी अपनी सौंदर्य दृष्टि है।  
आकाश के बीच फूटते हुए बमों की लाली  
किस सूर्योदय से कम है।  
और फिर खंडहरों की भव्य करुणा  
जिनके बीच किसी फूहड़ मज़ाक की तरह  
खड़ा हुआ विजय-स्तंभ!

नफ़रत में समाहित हैं  
जाने कितने विरोधाभास...  
विस्फोट के धमाके के बाद मौत की खामोशी,  
बर्फ़ीले मैदानों पर छितराया लाल खून।

इसके बावजूद यह कभी दूर नहीं जाती  
अपने मूल स्वर से  
खून से सने शिकार पर झुके जल्लाद से।  
यह हमेशा नई चुनौतियों के लिए तैयार रहती है  
भले ही कभी कुछ देर हो जाए  
पर आती ज़रूर है।  
लोग कहते हैं नफ़रत अंधी होती है।  
अंधी! और नफ़रत!  
इसके पास तो जनाब, बाज की नज़र है  
निर्निमेष देखती हुई भविष्य के आर-पार  
जो कोई देख सकता है  
तो सिर्फ़ नफ़रत।

अनुवाद - विजय अहलूवालिया  
साभार : कविता कोश

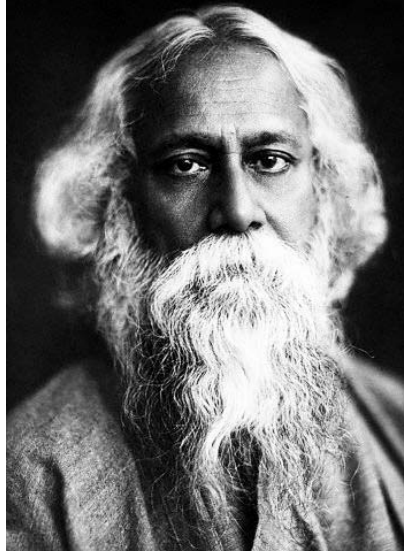
# मानवता के ऊपर देशभक्ति की जीत नहीं होने दूंगा, राष्ट्रवाद एक क्रूर महामारी है : टैगोर

कृष्ण मुरारी

//

टैगोर राष्ट्रवाद की आलोचना करने वाले 20वीं शताब्दी के सबसे प्रमुख व्यक्ति हैं। 1916-17 में जब वो जापान और अमेरिका में व्याख्यान दे रहे थे तो उन्होंने राष्ट्रवाद से उभरते खतरों को साफ तौर पर व्यक्त किया था।

दुनियाभर में बीते एक दशक में जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव आए और इन बदलावों के सूत्रधार के तौर पर जिन नेताओं का उभार हुआ—वो अब लगातार कई तरह की समस्याओं और संकट के तौर पर नज़र आने लगे हैं। कई अंतरराष्ट्रीय रिपोर्ट्स इस ओर इशारा करती हैं कि मजबूत और लोकलुभावन वायदे कर सत्ता में आए नेता, लोकतंत्र के लिए हानिकारक साबित हुए हैं। वी-डेम की रिपोर्ट में इसे विस्तार से समझाया गया है।



सामूहिक पहचान तले लोगों को संगठित किया जा रहा था—तब इसी के सहारे राष्ट्रवाद जैसे शब्द का भी उदय हुआ। पहले तो राष्ट्रवाद के सहारे लोगों को जोड़ने की कोशिश की गई और फिर विस्तारवादी रवैया अपनाते हुए इसे यूरोप के कई हिस्सों में पहुंचाया गया। 19वीं और 20वीं शताब्दी में राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद के मेल ने जो तबाही मचाई, वो किसी से छुपी बात नहीं है।

मजबूत नेता जिस राष्ट्र-राज्य की अवधारणा तले उभरते हैं और एक सीमित भूभाग पर शासन करते हैं। इसके पीछे जो सबसे अहम तत्व काम करता है—वो है राष्ट्रवाद।

फ्रांसीसी क्रांति के बाद जब राष्ट्र-राज्य की अवधारणा पहली बार पश्चिम में विकसित हो रही थी और एक

हैं। लेकिन भारत में राष्ट्रवाद के उदय होने से पहले ही पश्चिमी देशों और जापान के अनुभवों को समझते हुए रवींद्रनाथ टैगोर ने इसके खतरों से दुनिया को आगाह किया था और 1916-17 के बीच जापान और अमेरिका जाकर 'राष्ट्रवाद' पर कई अहम व्याख्यान दिए थे।

टैगोर की किताब 'राष्ट्रवाद' की भूमिका में ईपी थॉम्पसन ने लिखा है, 'राष्ट्रवाद न केवल दूरदर्शितापूर्ण बल्कि भविष्यसूचक रचना भी है और इसकी दूरदर्शितापूर्ण के पर्याप्त सबूत उपलब्ध है—दो-दो विश्वयुद्ध, आण्विक शस्त्रों की होड़, पर्यावरण का विनाश, नियंत्रण से मुक्त प्रौद्योगिकी।'

### 'सामूहिक पहचान का संघर्ष'

बीते साल जब टोक्यो ओलंपिक चल रहे थे उसमें भारत के भी 100 से ज्यादा खिलाड़ी शिरकत कर रहे थे। ये सभी खिलाड़ी अलग-अलग राज्यों से थे लेकिन जब अंतर्राष्ट्रीय तौर पर उन्होंने भारत का प्रतिनिधित्व किया तब सभी भारतीयों के जेहन में जो महसूस हुआ, जो कनेक्शन पैदा हुआ—वो एक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का ही प्रतिफल है, जो हमें उन खिलाड़ियों से और राष्ट्र के गौरव से जोड़ता है।

टैगोर ने अपनी किताब 'राष्ट्रवाद' में लिखा है, 'लोगों के राजनीतिक और आर्थिक संघ में राष्ट्र एक ऐसा दृष्टिकोण है, जो सारे देशवासी किसी उद्देश्य से संगठित होकर अपनाते हैं।'

टैगोर राष्ट्रवाद की आलोचना करने वाले 20वीं शताब्दी के सबसे प्रमुख व्यक्ति हैं। 1916-17 में जब वो जापान और अमेरिका में व्याख्यान दे रहे थे तो उन्होंने राष्ट्रवाद से उभरते खतरों को साफ तौर पर व्यक्त किया था और उनके दिए संकेत आने वाले कुछ दशकों में सही साबित हुए।

भारत में सामूहिक पहचान को 1905 में बंगाल के बंटवारे (बंग-भंग) ने मजबूती दी। उस समय टैगोर सहित बंगाल के कई विचारकों ने स्वदेशी आंदोलन में शिरकत की। बंटवारे के विरोध में टैगोर के गीतों को आम लोगों ने गाना शुरू किया लेकिन बढ़ती हिंसा के बाद टैगोर ने खुद को इससे अलग कर लिया।

कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रवाद को लेकर पनप रहे खतरों को टैगोर ने उसी समय भांप लिया था।

### मानवीय मूल्यों पर टिका है टैगोर का संसार

टैगोर ने मानवीय, प्राकृतिक और सामाजिक सभ्यता के मूल्यों पर हमेशा जोर दिया और आधुनिकता को बुद्धि की स्वतंत्रता से जोड़ा।

जापान ने 20वीं शताब्दी में जिस तरह सामाजिक और आर्थिक विकास किया, टैगोर उससे काफी प्रभावित थे। उन्होंने जापान की तारीफ करते हुए कहा था, 'जापान एक ही समय में पुराना और नया दोनों है। उसके पास पौराणिकता की पुरातन संस्कृति की विरासत है।' लेकिन जब जापान

में राष्ट्रवाद के खतरों पर उन्होंने बात की तो वहां के लोगों ने उनकी बात को पसंद नहीं किया। अमेरिका में भी उनकी बातों का विरोध हुआ।

टैगोर दुनिया के पहले कवि और साहित्य कर्मी हैं जिनकी कल्पना में एक विश्वविद्यालय का सपना था। जहां मानवीय और प्राकृतिक मूल्यों के तहत शिक्षा का एक मॉडल तैयार करने की सोच थी। 1901 में टैगोर ने शांतिनिकेतन की स्थापना की। टैगोर बंगाल के जिस परिवार से आते थे वो साहित्य, कला, संस्कृति से गहराई से जुड़ा हुआ था, इसी का प्रभाव टैगोर पर भी पड़ा।

1912 में टैगोर ने ब्रिटेन की यात्रा की और बांग्ला में लिखी अपनी कविताओं के संग्रह गीतांजलि के अंग्रेजी अनुवाद को साथ लेकर गए। वहां आइरिश कवि डब्ल्यू बी यीट्स उनकी कविताओं से काफी प्रभावित हुए और उनकी मदद से गीतांजलि का अंग्रेजी में प्रकाशन हुआ। इसके अगले ही साल टैगोर को साहित्य के क्षेत्र में नोबेल पुरस्कार दिया गया। टैगोर एशिया के पहले व्यक्ति थे जिन्हें ये सम्मान मिला था। टैगोर खुद कहते थे कि इस सम्मान के बाद वो जीवन में काफी व्यस्त रहने लगे थे।

### 'मानवता के ऊपर देशप्रेम की जीत नहीं होने दूंगा'

टैगोर की लेखनी में राष्ट्रवाद का पुरजोर तरीके से विरोध नज़र आता है। 1908 में भारतीय वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस की पत्नी अबाला बोस को लिखी चिट्ठी में टैगोर ने कहा था, 'देशप्रेम हमारा आखिरी आध्यात्मिक सहारा नहीं बन सकता। मेरा आश्रय मानवता है। मैं हीरे के दाम में ग्लास नहीं खरीदूंगा और जब तक मैं जिंदा हूँ मानवता के ऊपर देशभक्ति की जीत नहीं होने दूंगा।' टैगोर के उपन्यास 'घरे बाइरे' में भी यही अभिव्यक्ति नज़र आती है।

टैगोर के जन-गण-मन (राष्ट्रगान) और बंगाल से ही आने वाले बंकिमचंद्र चटर्जी के वंदे मातरम के बिना राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति बेमानी है। टैगोर भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं लेकिन क्या राष्ट्रवाद को लेकर उनकी सोच भारतीय लोकमानस में स्वीकार की गई?

टैगोर ने कहा है, 'राष्ट्रवाद एक क्रूर महामारी है, जो न केवल वर्तमान समय के मानवीय विश्व को प्रभावित कर रही है बल्कि इसकी नैतिक ऊर्जा को भी लील रही है।'

उन्होंने कहा था, 'राष्ट्र का विचार, मानव द्वारा आविष्कृत, बेहोशी की सबसे शक्तिशाली दवा है। इसके धुएं

के असर से पूरा देश, नैतिक विकृति के प्रति बिना सचेत हुए, स्वार्थ-सिद्धि के सांघातिक कार्यक्रम को व्यवस्थित ढंग से लागू कर सकता है। वस्तुतः वह खतरनाक तरीके से बदला लेने के बारे में भी सोच सकता है, यदि उसे इसका भान करा दिया जाए।'

टैगोर ने हमेशा राष्ट्रवाद और देश से ऊपर मानवता के आदर्शों को जगह दी। लेकिन वर्तमान भारत की स्थिति पर नज़र डालें तो साफ दिखाई देता है कि राष्ट्रवाद ने किस हद तक देश को अपनी जद में ले लिया है और सकारात्मक राष्ट्रवाद हाशिए पर चला गया है।

नेटफ्लिक्स पर 2021 में एक डॉक्यूमेंट्री सीरीज आई है जिसका नाम है—हाउ टू बिकम ए टिरेंट। इस सीरीज में विस्तार से बताया गया है कि तानाशाह बनने की क्या प्रक्रिया होती है और कैसे इसके मूल में राष्ट्रवादी भावना होती है जिसके सहारे लोगों को एकजुट किया जाता है।

टैगोर जिस राष्ट्रवाद का हमेशा विरोध करते रहे, उसी को आज दुनिया के कई मुल्कों के नेताओं ने अपने शासन का मुख्य अस्त्र बना लिया है। ये पूरी दुनिया और मानवता के लिए खतरा है।

सिडनी विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर जोन कीन ने कुछ दिनों पहले इंडियन एक्सप्रेस में लिखे एक लेख में बताया था कि दुनियाभर में कैसे लोकतंत्र मर रहा है और उन्होंने इसके लिए कई संकेतों को लेख में व्यक्त किया है।

## गांधी और टैगोर

महात्मा गांधी का रवींद्रनाथ टैगोर काफी सम्मान करते थे लेकिन इसी के साथ दोनों के बीच राष्ट्रवाद, तार्किकता, विज्ञान, आर्थिक-सामाजिक विकास के तौर-तरीकों को लेकर गहरा मतभेद था। 1938 में 'गांधी-द मैन' लेख में टैगोर ने गांधी को देश के लिए अहम बताया था लेकिन गांधी पर अतार्किक होने और लोगों के बीच इसे विस्तार देने पर उन्होंने गांधी की जमकर आलोचना भी की थी।

1934 में जब बिहार में जबर्दस्त भूकंप आया और भारी तबाही मची तो गांधी ने उसे लोगों के पापों का फल बताया। उस समय देश में गांधी छुआछूत के खिलाफ मुहिम चला रहे थे। लेकिन टैगोर ने उस समय गांधी द्वारा दी गई व्याख्या का विरोध किया। टैगोर अवैज्ञानिक सोच के खिलाफ थे और लोगों के बीच इस तरह बनते धारणाओं

के खतरों को लेकर काफी सजग थे।

इसके बावजूद गांधी और नेहरू के मन में भी टैगोर के प्रति काफी सम्मान था। इसी का नतीजा है कि आजादी के बाद जन-गण-मन को राष्ट्रगान के तौर पर शामिल किया गया। यहां तक कि बांग्लादेश ने भी अमार सोनार बांग्ला को राष्ट्रगान बनाया, जिसे टैगोर ने ही लिखा था।

टैगोर की ये कविता भारत को लेकर उनके विचार को प्रदर्शित करती है—

*जहां मन है निर्भय और मस्तक है ऊंचा*

*जहां ज्ञान है मुक्त*

*जहां पृथ्वी विभाजित नहीं हुई है छोटे छोटे खंडों में*

*संकीर्ण स्वदेशी मानसिकता के दीवारों में*

*जहां शब्द सब निकलते हैं सत्य की गंभीरता से*

*जहां अविश्रांत प्रयास उसका हाथ बढ़ा रहा है परिपूर्णता की ओर*

*जहां स्पष्ट न्याय का झरना खोया नहीं है अपना रास्ता*

*निर्जन मरुभूमि के मृत्यु जैसा नकारात्मक रेत के अभ्यास में*

*जहां मनको नेतृत्व दे रहे हो तुम*

*ले जा रहे हो निरंतर विस्तारित विचार और गति के मार्ग को*

*ले जा रहे हो वही स्वतन्त्रता की स्वर्ग को,*

*हे मेरे पिता, मेरे देश को जागृत होने दो*

संदर्भ सूची : 1. राष्ट्रवाद-रवींद्रनाथ टैगोर, 2. द आर्ग्यूमेंटेटिव इंडियन-अमर्त्य सेन, 3. रवींद्रनाथ टैगोर-सत्यजीत रे द्वारा बनाई गई डॉक्यूमेंट्री।

साभार : hindi.theprint.in

# अब वह भारत भी नहीं रहा, जिसमें जन्म लिया

योगेश प्रताप शेखर

यह वह मगध नहीं / तुमने जिसे पढ़ा है / किताबों में, /  
यह वह मगध है / जिसे तुम / मेरी तरह गंवा / चुके हो

ऊपर की पंक्तियां हिंदी के प्रसिद्ध कवि श्रीकांत वर्मा (1931-1986 ई.) के चर्चित कविता-संग्रह 'मगध'(1984 ई.) की हैं। आज भारत और हिंदू धर्म की जो स्थिति है उसे देखकर ऊपर 'मगध' की जगह भारत या हिंदू धर्म रखा जा सकता है।

जो भारत अब तक बना था, जिसे हम यहां की प्रकृति और किताबों में पढ़ते थे ऐसा लगता है कि वह 'आजादी के अमृत काल' में विष के समुद्र में लगातार धकेला जा रहा है।

हिंदू धर्म की भी यही स्थिति लगती है। हिंदू धर्म की तथाकथित उदारता के क्रिस्से जो बचपन से हिंदू घरों में सुनाई पड़ते थे उनकी जगह अब एक खौलता मुद्दा लगातार चीखता रहता है। कभी यह मुसलमानों की बढ़ती जनसंख्या का हो सकता है, तो कभी 'लव जिहाद' का, कभी ताजमहल के कमरों में मूर्तियों के पाए जाने का, कभी किसी मस्जिद के नीचे मंदिर होने का तो कभी अज्ञान एवं 'हनुमान चालीसा' का हो सकता है।

इन सब के साथ 'कश्मीरी पंडितों' का जिक्र भी चला आता ही है। हिंदुओं के मन में यह सब इस प्रकार संचित हो गया है (ज्यादा ठीक यह कहना होगा कि संचित कर दिया गया है।) कि धर्म के भीतर जो उदारता और सहिष्णुता हो सकती है वे इस से लगातार दूर होते जा रहे हैं।

आक्रामकता और उग्रता के नए-नए प्रतीक हिंदुओं के सामने लाए जा रहे हैं। उदाहरण के लिए 'परशुराम'! इनकी जयंती पिछले कुछ वर्षों से अचानक ही बड़ी धूम-धाम से मनाई जाने लगी है। 'रामनवमी' पर्व को तो इस आक्रामकता और उग्रता के चरम रूप में विकसित कर ही दिया गया है। इतना ही नहीं 'क्रिसमस' के दिन 'तुलसी जयंती' से जुड़े संदेश, वीडियो आदि भी खूब व्यापक पैमाने पर प्रसारित किए जाते हैं।

इन सब पर ठहरकर विचार किया जाए तो कुछ बातें समझ में आती हैं। सबसे पहली तो यह कि इन मुद्दों का इस्तेमाल कर हिंदुओं के मन में एक साथ ही डर, आक्रामकता और उग्रता को

भरा जा रहा है।

डर या भय के बारे में हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'किसी आती हुई आपदा की भावना या दुख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभ-कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।'

मुसलमानों या ईसाइयों से जुड़े मुद्दों (जैसे, भारत में मुसलमानों को बहुत अधिक सुविधा मिली हुई है, वे साजिश के तहत हिंदू लड़कियों को 'खराब' कर रहे हैं, ईसाई बड़े पैमाने पर धर्मांतरण करा रहे हैं, आदि-आदि) को सामने लाकर हिंदुओं के मन में 'किसी आती हुई आपदा की भावना' भरी जाती है और फिर इससे उनके भीतर जो 'आवेग' जन्म लेता है उसे 'आक्रामकता एवं उग्रता' में रूपांतरित करने की पूरी व्यवस्था बनाई जाती है।

यदि ऐसा नहीं होता तो रामनवमी के समय इतनी भारी संख्या में तलवारों की खरीद-बिक्री कैसे हो पाती? फिर यही 'आक्रामकता एवं उग्रता' सड़क पर भीड़ की शक्ल में उत्पात मचाती प्रकट होती है। क्या कोई भी सच्चा रामभक्त रामनवमी के दिन मस्जिद पर भगवा झंडा लगाने और लहराने को अपनी पूजा-आराधना मान सकता है?

इसका उत्तर हमेशा ही 'नहीं' होगा। यह कैसी विडंबना है कि हिंदू अपने धर्म से हिंदू धर्म के नाम पर ही दूर कर दिए गए हैं और यह प्रक्रिया लगातार जारी है! मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिंदुओं के साथ जो हो रहा है उससे वे दया के पात्र अधिक महसूस होते हैं।

डर, आक्रामकता और उग्रता के साथ दूसरी बात जो हो रही है वह है 'प्रतीक' की बहुतायत उपस्थिति। यह केवल धार्मिक मसलों पर ही नहीं किया जा रहा है बल्कि अन्य विषयों के साथ भी रचा जा रहा है।

उदाहरण के लिए, 31 अक्टूबर सरदार वल्लभ भाई पटेल का जन्मदिन है। उसे 'राष्ट्रीय एकता दिवस' के रूप में घोषित किया गया और भारत के सभी विश्वविद्यालयों को कहा गया है कि उस दिन 'एकता के लिए दौड़' का आयोजन करें।

अभी इसी महीने गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर की जयंती (बांग्ला

कैलेंडर के अनुसार 9 मई) बीती है। एक केंद्रीय विश्वविद्यालय ने आदेश प्रसारित किया कि सभी शिक्षकेतर कर्मचारी सुबह साढ़े नौ बजे विश्वविद्यालय के मुख्यद्वार पर एकत्र होकर राष्ट्रगान गाकर विश्वविद्यालय में प्रवेश करेंगे। सभी अकादमिक विभागों से कहा गया कि पहली कक्षा की शुरुआत से पहले राष्ट्रगान गाया जाए।

इतना ही नहीं अकादमिक विभागों को यह भी कहा गया कि इस आयोजन की तस्वीरें तथा वीडियो आदि कुलसचिव कार्यालय को प्रेषित करें। हालांकि एकाध अकादमिक विभाग ने संगोष्ठी आदि का आयोजन भी किया पर जिस तरह केंद्रीय स्तर पर कार्यालय आदेश प्रसारित किया गया उसके स्थान पर एक बढ़िया आयोजन भी केंद्रीय स्तर पर ही किया जा सकता था।

सोचा जा सकता है कि रवींद्रनाथ जैसी महान प्रतिभा को महज राष्ट्रगान तक सीमित कर दिया गया। क्या यह यूं ही घटित हो गया? या इसके पीछे कोई वैचारिक दृष्टि है? यह स्पष्ट है कि चूंकि रवींद्रनाथ का राष्ट्रवाद अभी की वर्तमान केंद्रीय सरकार और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रस्तावित 'राष्ट्रवाद' के मेल में नहीं है इसलिए रवींद्रनाथ को महज राष्ट्रगान के रचयिता के रूप में ही सीमित कर दिया गया? इसी प्रकार महात्मा गांधी की जयंती को भी केवल स्वच्छता तक सीमित कर दिया गया है।

प्रतीक की यही विडंबना होती है कि वह जिससे जन्म लेता है उसे ही निगल जाता है। यानी उसकी अर्थवत्ता सीमित हो जाती है और उसका वास्तविक स्वरूप ही विस्मृत होता चला जाता है। और यदि उस प्रतीक के अनुयायी भी हुए तो उनके मन में उससे जुड़े अनेक तरह के भ्रम, दुर्व्याख्या, दुविधा और अज्ञानता घर करने लगती है।

हिंदुओं के साथ भी ऐसा ही हो रहा है। उदाहरण के लिए, जैसे ही यह समाचार आता है कि ताजमहल के बंद कमरों को खुलवाने के लिए प्रयास किया जा रहा है क्योंकि वहां मूर्तियों के होने का संदेह है! यह संदेह भी क्यों है? इसलिए कि ताजमहल दरअसल पहले मंदिर था! अब मंदिर से भावनात्मक जुड़ाव रखने वाला हिंदू मन तुरंत ही खोलने लगता है।

मीडिया चैनलों पर इससे जुड़े कार्यक्रम आयोजित होने लगते हैं जो इस दशा को और तीव्र करते हैं। यह सब एक विचित्र तरह की आपाधापी में घटित होता है। इस आपाधापी में यह चर्चा भी नहीं होती कि ताजमहल को लेकर ऐसी बातें लगभग 50-60 वर्षों से कही जाती रही हैं।

एक पुरुषोत्तम नागेश ओक नामक व्यक्ति ने लगभग 1965 ई. में 'द ताजमहल इज़ ए टेंपल प्लेस' शीर्षक किताब लिखी थी। पर खौला दिया गया हिंदू मन यह भी नहीं सोच पाता कि इन बातों का कोई शोधपरक आधार भी है या नहीं?

यह सवाल भी सामने नहीं आता कि पुरुषोत्तम नागेश ओक के बाद ऐसे कितने शोधकर्ता या विद्वान हुए जिन्होंने इस दिशा में

सच में गंभीर काम किया हो? बस शोर और नफरत चारों ओर गूंजती रहती है। इस तरह के शोर और नफरत का परिणाम यह होता है कि किसी मंदिर के बाहर फल बेचने वाले मुसलमान का सब कुछ तोड़-फोड़ दिया जाता है।

इन सब प्रक्रियाओं में सत्ता की क्या स्थिति है? इस सवाल का विश्लेषण करने की कोशिश करें तो निराशाजनक जवाब मिलता है। सत्ता का काम जनता की नकारात्मक प्रवृत्तियों को उकसाना नहीं बल्कि उसे शांत करना है। पर जब सत्ता जनता की नकारात्मक प्रवृत्तियों के उकसाने को अपने टिके रहने का माध्यम बना ले तब जनता का विचित्र प्रकार से बेचैन होना निश्चित है।

उदाहरण के लिए, तथाकथित 'धर्म-संसद' में धर्म के नाम पर 'नरसंहार' की बात की जाती है पर सत्ता कोई कार्यवाही नहीं कर पाती। सत्ता में सर्वोच्च पदों पर आसीन लोग भेदभाव और नफरत को बढ़ावा देने वाले बयान लगातार देते रहे हैं। झूठ का प्रचार करते हैं। ऐसा वातावरण निर्मित किया जाता है कि हिंदू मन आक्रामक उग्र बना रहे।

इन सबके साथ चिंताजनक बात यह है कि हिंदुओं के मध्य वर्ग को इस में अब आनंद महसूस होने लगा है। यदि 'बुलडोजर' को त्वरित न्याय का संदेश बना दिया गया है तो इस मध्य वर्ग को न्याय की सम्मत कार्यवाही की जरूरत नहीं लगती।

यदि कहीं से इन सबके विरोध में आवाज़ उठती है तो सत्ता क्रूर दमन पर उतर आती है। कोई भी असहमति तुरंत ही 'देशद्रोह' में तब्दील कर दी जाती है। विश्वविद्यालय की परीक्षा में एक सवाल पूछने पर शिक्षक को निलंबित कर दिया जाता है।

कुल मिलाकर यह कि जनता को नफरत, उग्रता, आक्रामकता और हुड़दंग की मनोदशा में बनाए रखना, इसके लिए 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' का अनथक प्रयास और विरोध के स्वर का क्रूरता से दमन आज के भारत का सच बन गया है।

इसके लिए सबसे अधिक नौजवानों को तैयार किया जा रहा है। यह सहज ही जाना जा सकता है कि धर्म के नाम पर सड़क पर हुड़दंग करने वालों में 16-18 से लेकर 25-30 वर्ष तक के आयु-वर्ग के लोग सबसे अधिक होते हैं। और यह ऐसा सच भी नहीं जिसका मुख सोने के पात्र से ढका हुआ है! यह खुलेआम है।

अगर अब भी इस खुलेआम 'खेल' को देखकर हिंदू जनता की आंखें नहीं खुलीं तो इस धर्म का खोखला होते जाना निश्चित है।

और भारत? एक प्रश्नवाचक चिह्न! इस भारत और हिंदू धर्म को देखकर चिंता और तकलीफ होती है। हिंदी के समकालीन कवि आलोक धन्वा की प्रसिद्ध कविता 'सफेद रात' की पंक्तियां याद आती हैं :

भारत में जन्म लेने का / मैं भी कोई मतलब पाना चाहता था / अब वह भारत भी नहीं रहा / जिसमें जन्म लिया

## ४ • समरथ

अप्रैल-जून, 2022



# मस्जिदों से निकलते भगवान अथवा कब्जे का धार्मिक तरीका?

अपूर्वानंद

//

ज्ञानवापी मस्जिद में शिवलिंग के प्रकट हो जाने से जो चमत्कृत हैं, वे जानते हैं कि यह झूठ है।  
'बाबा प्रकट हुए मस्जिद में', ऐसा कहने वाले धार्मिक हो या न हों, अतिक्रमणकारी अवश्य हैं।

हम बचपन से ज़मीन या किसी का मकान हड़पने की कई तरकीबों का इस्तेमाल होते देखते आए हैं।

एक बार एक साहब संकट में पड़ गए। उनके मकान की दीवार में किसी दरार से पीपल की पौधा निकल आया था। वे उसे निकाल देना चाहते थे ताकि दीवार कमजोर न हो और उसकी जड़ें इतनी अंदर न चली जाएं कि पूरे मकान को ही नुकसान हो।

उनके किसी पड़ोसी को भनक मिल गई। फिर क्या था! अगल-बगल से श्रद्धालु आकर उस पीपल के बिरवे, जो अभी वृक्ष नहीं हुआ था, की पूजा करने लगे। मकान मालिक के सामने उनके घर के एक हिस्से पर श्रद्धावश अन्य हिंदू धीरे-धीरे दावा कर रहे थे। आखिर वे इस पवित्र वृक्ष को कैसे छू सकते हैं!

भजन-कीर्तन शुरू हो गया और मकान हाथ से जाता दिखलाई पड़ा। पड़ोसियों की स्वाभाविक ईर्ष्या वृत्ति संतुष्ट हो रही थी। स्थानीय पुलिस इसका आनंद ले रही थी और मकान के इस पवित्रीकरण को रोकने में उसकी रुचि न थी।

अपने ही मकान को बचाने के लिए पुलिस को कुछ प्रोत्साहन देकर एक रात उन्होंने बिरवा निकाल ही दिया। जिस वक्त की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय बजरंग दल जैसे धार्मिक रूप से प्रतिबद्ध पूरावक्ती कार्यकर्ता न थे, वरना रात के अंधेरे में पीपल भगवान के उच्छेद का पाप वे न कर पाते।

निजी को सार्वजनिक में बदल देने का यह धार्मिक तरीका,

जो हिंदुओं की खास ईजाद है, मार्क्स को मालूम न था। वरना वे यह न कहते कि धर्म जनता के लिए अफ़ीम है। वे यह लिख जाते कि निजी संपत्ति के पेड़ के विनाश के लिए धर्म मट्टा है।

अचानक किसी जगह शिवलिंग के प्रकट हो जाने की 'आश्चर्यजनक किंतु सत्य' जैसी खबरें हम बीच-बीच में सुनते रहते थे। बाल मस्तिष्क को इस चमत्कार का रहस्य मालूम न हो पाता था।

एक दिन एक ग्रामीण ने बताया कि यह किसी की ज़मीन कब्जा करने का सबसे आसान तरीका है। ज़मीन में उथला गड्ढा खोदो, उसमें ढेर सारे चने डालो और उसके ऊपर एक नन्हीं-सी मूर्ति रख दो। धीरे-धीरे पानी देते रहो। चने फूलने लगेंगे और मूर्ति ऊपर उठती हुई एक दिन प्रकट हो जाएगी।

फिर आस-पास के गांवों में शोर मच जाएगा। पूजा-अर्चना शुरू हो जाएगी। पंडित अपना गमछा संभालते हुए देव प्रतिमा की सेवा के लिए उपस्थित हो जाएंगे। चमत्कार को भूखे जन अपनी श्रद्धा लिए, जो उसके पास प्रचुर मात्रा में है, हाथ जोड़े, भजन करते हुए ठट्ट के ठट्ट जमा हो जाएंगे।

सस्ता और कारगर! भौतिक भूमि को आयत्त करने का इससे अहिंसक तरीका क्या हो सकता है? जिसकी ज़मीन है, वह क्या इस आध्यात्मिकता के लिए इतनी भूमि भी उत्सर्ग नहीं कर सकता? गैर मजरुआ ज़मीन हुई तो फिर बात ही क्या?

कब्रिस्तान की ज़मीन पर एक कोने में किसी पेड़ पर

पवित्र धागों को बांधने से उस पर कब्जे की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। या, किसी एक छोटी मूर्ति को रखकर उस पर जल चढ़ाने से भी यह किया जा सकता है। आजकल तिरंगे से भी यह काम लिया जाने लगा है। यानी मुसलमानों की ज़मीन का राष्ट्रवादीकरण।

अभी राजस्थान में सड़क से यात्रा करते हुए एक पहाड़ी पर एक बड़े पत्थर को रंगे हुए देखा। हनुमान की शकल निकाल दी गई थी। पत्थर को कल्पनाशील नेत्रों से देखें तो हनुमान ही लगता था। फिर कहीं न वहाँ एक हनुमान मंदिर बने!

हमने बादलों में भी कई बार ऐसी सूरतें बनती देखी हैं। वह तो भला हो हवा का कि वह टिकती नहीं वरना आस्थावान आसमान में भी हनुमान मंदिर बना डालते!

ऐसे अवसरों पर प्रकटीकरण के लिए प्रायः शालिग्रामजी या शिवलिंग का प्रकटीकरण होना देखा जाता था। उससे सुगम कुछ नहीं। कृष्णजी की तो त्रिभंगी मुद्रा ही हमें याद है, हालांकि इधर के लोग शायद सुदर्शन चक्रधारी कृष्ण को ही आराध्य मानते होंगे। जैसे हमें भोले-भाले हनुमान प्यारे लगते थे, बाल हनुमान की सूर्य को निगल जाने की क्रीड़ा पर मां अंजना की झिड़की से आनंद आता था!

हनुमान की बात चली तो इतिहासकार रामशरण शर्मा याद आए। बाबरी मस्जिद स्थल को राम जन्मभूमि कहकर हड़पने का अभियान जब चल रहा था, तब का सुना हुआ शर्माजी का एक व्याख्यान याद रह गया है।

उन्होंने अपने परिचित हास्यपूर्ण अंदाज में बिहार में कम्युनिस्टों द्वारा चलाए गए 'भूमि हड़प' आंदोलन की याद करते हुए कहा कि उन्हें अपने ध्वज पर हनुमान को धारण करना चाहिए था तब उनकी सफलता का स्थायी होना निश्चित था।

तब उन्होंने समकालीन भौतिक उद्देश्यों के लिए हनुमान की प्रासंगिकता पर भी प्रकाश डाला था। वह व्याख्यान जिसका आनंद हिंदू श्रोताओं ने जमकर लिया था, आज संभव नहीं है। लेकिन अब तो शर्माजी भी नहीं रहे।

आज जिस ज़मीन पर राम का भव्य मंदिर बन रहा है, वह इसी पद्धति से हासिल की गई है। इसे सर्वोच्च न्यायालय ने भी स्वीकार किया।

1949 में बाबरी मस्जिद के भीतर रात के अंधेरे में चोरी-चोरी देव प्रतिमाएं रख दी गई थीं। यह अपराध था, यह सबसे बड़ी अदालत ने कहा। लेकिन यह कितना दिलचस्प है कि जिसे अदालत ने चोरी-चोरी मस्जिद में मूर्ति घुसाना कहा उसे व्यापक समाज के सामने रामलला का प्रकटीकरण कहा

गया। और हिंदू समाज ने उसे स्वीकार भी किया।

सब जानते थे कि वे मस्जिद में चोरी से मूर्ति रख रहे हैं। लेकिन यह मस्जिद पर अपना दावा पेश करने का और फिर उस पर कब्जा करने का पुराना आजमाया हुआ भारतीय तरीका था।

फिर कहना शुरू किया गया कि यह तो मंदिर ही है और अगर हम अपने मंदिर को तोड़कर नया मंदिर बनाना चाहते हैं तो दूसरों को क्या! इस झूठ को ढिंढाई से प्रचारित किया गया और हिंदू समाज ने मान भी लिया।

यह दूसरे धर्मों के लिए भी सच है लेकिन अभी हम हिंदू समाज की बात कर रहे हैं। आखिर मठों में महंतों के उत्तराधिकार का प्रश्न कई बार हथियारों के सहारे क्यों तय किया जाता है?

क्या उत्तराधिकार के लिए सत्तासीन महंत को रास्ते से हटाना इसलिए अनिवार्य हो जाता है कि उत्तराधिकारी की सेवा भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि वह गुरु के स्वाभाविक, प्राकृतिक अवसान की प्रतीक्षा नहीं कर सकता? क्या यह आध्यात्मिक व्यग्रता है या सांसारिक?

महंतों के समाज में ऐसी रक्तरंजित कथाओं की कमी नहीं है। इसीलिए प्रायः हर महंत अपने उत्तराधिकारी से सशक्त ही रहता है।

बाबरी मस्जिद पर कब्जे की शुरुआत मूर्तियों के चोरी से मस्जिद में रखने से हुई थी। अदालत चाहती तो इसे अपराध मानने के बाद अपराध की सजा तय करती। लेकिन उसने इस अपराध को धारावाहिक रूप देने वालों को मस्जिद की ज़मीन देकर पुरस्कृत किया। इस तरह उसने एक परंपरा की नींव डाली।

आज ज्ञानवापी मस्जिद में शिवलिंग के प्रकट हो जाने से जो चमत्कृत हैं, वे जानते हैं कि यह झूठ है। 'बाबा प्रकट हुए मस्जिद में', ऐसा कहने वाले धार्मिक हो या न हों, अतिक्रमणकारी अवश्य हैं।

वजूखाने में जिसे वे शिवलिंग कह रहे हैं, वह मुसलमानों के अनुसार वजूखाने का फव्वारा है। लेकिन दोनों की आकृति में साम्य देखा जा सकता है। अगर झगड़ालू बड़ का वृक्ष हो सकता है तो फव्वारा शिवलिंग क्यों नहीं।

हिंदुओं को तो यह सुविधा प्राप्त है कि वे पत्थर में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे अपने आकांक्ष्य आराध्य में बदल दे सकते हैं। फिर इस फव्वारे को अगर मुझे शिवलिंग मानने की श्रद्धा है तो मुसलमानों की मानी जाएगी या मेरी।

प्रश्न श्रद्धा का है। और श्रद्धा उसकी मान्य है जिसके पास संख्या बल और राज्य का बल है!

# क्या जुल्मों के दौर में भी गीत गाए जाएंगे

सुधन्वा देशपांडे

//

(इष्टा ने आज़ादी के 75वें वर्ष के अवसर पर 'ढई आखर प्रेम के' शीर्षक की सांस्कृतिक यात्रा का आयोजन किया था। 9 अप्रैल 2022 को रायपुर से शुरू हुई यह यात्रा छत्तीसगढ़, झारखंड, बिहार और उत्तर प्रदेश से होती हुई मध्य प्रदेश में 22 मई को समाप्त हुई। यात्रा में नाटक, गीत, संगीत आदि के माध्यम से इंसानियत, प्रेम और सौहार्द की बातों की गई जो हमारे आज़ादी के संघर्ष की विरासत भी है। समापन आयोजन में लेखक, अभिनेता व निर्देशक सुधन्वा देशपांडे बतौर मुख्य अतिथि इंदौर पहुंचे थे और उन्होंने 'नाटक में प्रतिरोध की धारा' विषय पर संबोधन दिया था। उनके संबोधन को लेख का रूप दिया गया है।)

जन नाट्य मंच (जनम, दिल्ली) और इष्टा का रिश्ता बहुत पुराना है—बल्कि जनम का जनम ही इष्टा की देन है। ये सांस्कृतिक यात्रा बेहद प्रेरणादायी रही है—हम सभी के लिए— क्योंकि इसके जरिये आपने साबित किया है की इस अंधेरे के दौर में प्रेम की शमा को संजोना मुमकिन है। इस यात्रा में आपने जगह-जगह हमारे स्वाधीनता संग्राम के नायकों को याद किया, और जिस धरती पर उन्होंने शहादत दी उसे इकट्ठा किया है, और इसके जरिये एक पूरी नई पीढ़ी को हमारे इतिहास से वाकिफ़ कराया।

मुझे कोई शक नहीं की ये यात्रा सिर्फ इतिहास को याद नहीं करती, बल्कि खुद एक ऐतिहासिक यात्रा साबित होगी। इष्टा के सभी साथियों को जनम का सलाम पेश करने मैं आज यहां आया हूं। मुझे 'प्रतिरोध की धारा का नाटक' मौजू पर बोलने के लिए कहा गया है। लेकिन मैं कोई बुद्धिजीवी नहीं हूं। मैं नाटक करता हूं। खुले में, बस्तियों और पार्कों में, नुक्कड़ और चौराहों पर, स्कूलों और कॉलेजों में, फैक्ट्रियों के गेट पर, गांवों और खलिहानों में। मुझे भाषण देना नहीं आता।

वैसे भी मेरे उस्ताद हबीब तनवीर कहा करते थे कि किसी को बोरियत से मारना हो तो उसे नसीहत दो, और उसके जहन पर असर डालना हो तो उसे कहानी सुनाओ। तो चलिए,

आज मैं आपको कुछ कहानियां सुनाता हूं।

1942-43 की बात है। बंगाल एक भयानक अकाल की गिरफ्त में था। चित्तोप्रसाद और जैनुल आबिदीन के चित्रों और सुनील जाना की तस्वीरों से लोग वाकिफ़ हैं। इस अकाल का संगीत और थियेटर की दुनिया पर भी गहरा असर पड़ा था। संगीतकार ज्योतिरेंद्र मोइत्रा लिखते हैं :

'अकाल का स्याह साया पूरे बंगाल पर पड़ा, खासतौर से कलकत्ता शहर पर। खुद को बंद दरवाजों के पीछे महफूज़ रखना मुमकिन ही नहीं था। ड्रामों की रिहर्सल और उन पर बहसें छोड़कर हम सड़कों पर उतर आए। जहां देखो, एक ही नज़ारा था—हज़ारों, लाखों कंकाल 'फ़्यान दाओ, फ़्यान दाओ' (मांड दो, मांड दो) चीखते हुए रो रहे थे। पेट में भूख की मरोड़ें लिए, किसान और उनकी जगधात्री—सी औरतें शहर तो आ गए, पर उनमें पका हुआ भात मांगने की हिम्मत न थी। वे सिर्फ़ भात का पानी—सिर्फ़ मांड—मांगते थे। ये इंसानियत के गाल पर तमाचा था। एक दिन सड़क के किनारे मैंने एक औरत की लाश देखी। उसका मासूम भूखा बच्चा उसकी

छाती को चूसता, हिचकोले खाता रो रहा था। इस मंज़र ने मेरे पूरे ज़हन को झकझोर दिया। मैं चिल्लाया, 'नहीं, नहीं, नहीं!' लड़खड़ाता, मैं भागा, और अपने आप से कहता रहा, 'नहीं, हम यूँ लोगों को मरने नहीं देंगे, हम आवाज़ उठाएंगे।' बस वही शुरुआत थी। मुझे याद नहीं मैं किसके घर गया, कहां से हारमोनियम लिया, किससे कागाज़ और क़लम मांगी। 'नॉबो जीबोनेर गान' की रचना यूँ ही शुरू हुई थी।'

इसी तरह एक दिन बिजोन भट्टाचार्य, जो उस वक़्त कलकत्ते में एक युवा पत्रकार थे, सड़क पर चले जा रहे थे। चारों ओर भूख और मौत का गंगा नाच हो रहा था। लगता था पूरा शहर कंकालों से भरा है। जिंदा कंकाल, भीख मांगते हुए, दर्द से कराहते हुए। ऐसे मंज़र को देखना, इन लोगों से आंखें मिलाना नामुमकिन जान पड़ता था। इसलिए बिजोन भट्टाचार्य सिर झुकाए, बिना ऊपर देखे बस अपने पैरों को घूरते हुए चलते।

आदमी घोड़े की तरह, बिना दाएं-बाएं देखे चल तो सकता है पर कान कैसे बंद करे! आवाज़ तो हवा पर चलती है—हवा को कौन रोके! रोज़ ही उन्हें रोने, सिसकने और विलाप की आवाज़ें सुनने की आदत-सी हो गई थी। इसलिए एक दिन खिलखिलाकर हंसने की आवाज़ सुनकर बिजोन भट्टाचार्य अचंभित हुए। ध्यान से सुना तो पता चला कि एक भूखा परिवार गांव की याद कर रहा था—और सिर्फ़ गांव की नहीं, बल्कि धान की पहली कटाई की जो ख़ास सौंधी महक होती है, उसकी याद कर रहा था और उस याद से खुशी पा रहा था।

ज़रा सोचिये—महज़ धान की कटाई की महक सर्द दिलों को गर्माहट दे रही थी। यह कैसी विकराल भूख रही होगी!

अगले दिन जब बिजोन भट्टाचार्य उसी जगह से गुज़रे तो आज भी उनके कान उन्हीं आवाज़ों पर लगे थे—लेकिन आज तो न वो हंसी सुनाई दी, न वो आवाज़ें। उन्होंने नज़र उठाकर तो न कल देखा था, और न आज ही देख रहे थे, सो पता नहीं चला कि वो परिवार वहां था या नहीं। लेकिन उस वाक्ये ने उनके दिल पर एक ऐसा गहरा असर किया कि उसने एक नाटक की शक्ल ले ली।

यही इप्ता का सबसे मशहूर नाटक था, 'नबान्नो', जिस पर आधारित फ़िल्म भी इप्ता ने ही प्रोड्यूस की थी, 'धरती के लाल।'

'नबान्नो' में एक अहम रोल अदा कर रही थीं तृप्ति मित्रा। तृप्ति एक शहरी लड़की थीं। उनका गांव से कुछ ज़्यादा लेना-देना नहीं था। उन्हें ड्रामे में एक ग्रामीण महिला का किरदार अदा करना था। लोग कहते हैं कि उन्होंने यह किरदार ऐसा शानदार निभाया कि देखने वालों के लिए इस बात पर यकीन करना नामुमकिन था कि वो सचमुच एक किसान परिवार की बेटी नहीं हैं।

बरसों बाद किसी ने तृप्ति मित्रा से पूछा, 'आपने वो रोल इतना बख़ूबी कैसे निभाया?' तो तृप्ति मित्रा ने एक वाक़या सुनाया।

एक दिन तृप्ति कहीं जा रही थी रास्ते में उन्होंने देखा कि एक शादी हो रही है। उसमें बड़ी तादाद में मेहमानों के लिए भोज तैयार हो रहा था। अकाल में भोज? हैरानी की बात लगती है न? लेकिन लगनी नहीं चाहिए क्योंकि यह अकाल कुदरती कारणों से नहीं, बल्कि अंग्रेज़ सरकार की नीतियों का नतीजा था।

और इन नीतियों से हमारे देश के एक बहुत छोटे-से तबके को बहुत फायदा था, जो बेशुमार दौलत कमा रहा था अकाल के बावजूद, या यूँ कहें कि अकाल की वजह से। आपको अगर यह लगे कि अंग्रेज़ सरकार की नीतियों और हमारे आज के निज़ाम की पॉलिसी में कोई ख़ास फर्क नहीं है, तो आप पूरी तरह ग़लत नहीं होंगे।

ख़ैर, तृप्ति मित्रा शादी के पंडाल के बगल से चली जा रही थीं कि उनके सामने एक हैरतअंग्रेज़ वाक़या पेश आया। शादी के हलवाई ने भात पकाने के बाद उसका मांड नाली में बहा दिया। पास ही एक छोटी-सी बच्ची और उसकी जवान मां थी। भूख से व्याकुल बच्ची नाली की तरफ़ लपकी। पर इससे पहले की वो मुंह लगाकर उसे पीती, किसी ने धक्का देकर उसे परे कर दिया— बच्ची ने नज़र उठाकर देखा तो पाया कि उसे धकेलने वाली कोई और नहीं, बल्कि उसकी अपनी मां थी, जो खुद मुंह लगाकर मांड पी रही थी।

एक पल को बच्ची हक्का-बक्का हुई। और उसी पल उसकी मां को भी होश आया। उसे एहसास हुआ कि उसने क्या किया है— अपनी बच्ची को खाना देने की बजाय खुद झपटकर खाने लगी। मां ने बच्ची को गले लगाया और फूट-फूट कर रोने लगी। सो तृप्ति मित्रा का कहना था कि जब भी हम 'नबान्नो' का शो करते थे, मैं अपनी एंट्री से पहले उस युवा मां की तस्वीर अपनी आंखों के आगे ले आती थी, उसके बाद एक्टिंग अपने आप हो जाती थी।

इस नाटक 'नबान्नो' का भारत के इतिहास में एक बड़ा रोल है। एक ऐसे ज़माने में, जब जंग के चलते अखबारों पर बहुत सी बंदिशें आयद थीं, जब खुलकर बात कहना बेहद मुश्किल था, उस स्याह दौर में ये नाटक ही था जो बंगाल के उस हौलनाक अकाल की सच्चाई मुल्लक के सामने लेकर लाया।

हज़ारों लोगों ने नाटक को देखा, और इस अकाल के मारों के लिए हज़ारों की रकम और चीजें जमा कीं। अगर इप्टा का 'नबान्नो' नाटक न होता, अगर कम्युनिस्ट पार्टी के अखबार 'पीपल्स वॉर' में कॉमरेड पीसी जोशी के लेख, चित्तोप्रसाद और ज़ैनुल आबिदीन के चित्र और सुनील जाना की तस्वीरें न छपतीं, तो बाकी मुल्लक शायद बंगाल की इस त्रासदी से बेखबर ही रह जाता।

ये बातें हैं 1942-43 की। आइए, अब चालीस साल की छलांग लगाते हैं और पहुंचते हैं 1984 की दिल्ली में। उस साल 31 अक्टूबर को हिंदुस्तान की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की उन्हीं के अंगरक्षकों ने गोली मारकर हत्या कर दी थी। दो सिख हत्यारों की करतूत का खामियाजा भुगतना पड़ा दिल्ली के हज़ारों मासूम और बेकसूर सिखों को।

सरकारी आंकड़े कहते हैं कि कम से कम 3,000 सिखों को मौत के घाट उतारा गया—जाहिर है, इनमें से ज्यादातर ग़रीब और मज़दूर थे। 1984 के सिख-विरोधी दंगों ने अपने समाज, हिंदू-सिख रिश्तों और दिल्ली शहर के मिज़ाज के बारे में हमारे ऐतबार और कांग्रेस पार्टी के बारे में लंबे दौर से चली आ रही सोच और यकीन को तार-तार कर दिया था।

उस वक्रत शहर का शायद सबसे पहला अमन जुलूस दिल्ली यूनिवर्सिटी के नॉर्थ कैंपस में निकाला गया था। सैकड़ों लड़के-लड़कियां, यूनिवर्सिटी के अध्यापक और छात्र इस जुलूस में शामिल हुए थे। नॉर्थ कैंपस के मुखलिफ़ कॉलेजों से होता हुआ यह जुलूस खालसा कॉलेज पहुंचा जहां बहुत सारे अध्यापक और छात्र पहले से मौजूद थे।

माहौल में गुस्सा था। वहां बड़ी तादाद में पुलिस की तैनाती ज़रूरी पर मिर्च का काम कर रही थी। सब जानते थे कि इस क्रत्लोगारत में दिल्ली पुलिस ने कैसा शर्मनाक किरदार निभाया था। नौजवानों के दिलों में गुस्सा था, उनकी आंखों से चिंगारियां फूटती थीं। फ़िज़ा में बेहद तनाव था। ऐसे में बस एक सिरफिरे की दरकार होती है, आग में तेल देने के लिए।

उस ज़माने में दिल्ली में एक गीत मंडली हुआ करती थी 'परचम' के नाम से। यह ग्रुप दिल्ली की मज़दूर बस्तियों में जन

नाट्य मंच के नाटकों के साथ अपने नग़मे पेश करता था। जन नाट्य मंच, जो खुद इप्टा से उभरा था, की रहनुमाई सफ़दर हाशमी करते थे।

ख़ैर, ये जुलूस खालसा कॉलेज पहुंचा और उसने एक आम सभा की शक्ल अख़्तियार कर ली। भाषण शुरू होने से पहले परचम को गीत गाने थे। कॉलेज के नौजवानों में ऐसा गुस्सा था कि कोई गाना सुनने के मूड में नहीं था। तब सफ़दर ने माइक परचम की सबसे नई सदस्य सुमंगला दामोदरन को थमा दिया। छोटे कद की दुबली-पतली सुमंगला तब बीए फर्स्ट ईयर में पढ़ती थीं।

सफ़दर बोला, 'जाने वाले सिपाही' गाओ।' ये चालीस के दशक में कम्युनिस्ट शायर मख़दूम का जंग के ख़िलाफ़ लिखा गया एक गीत था। साठ दशक में सलिल चौधरी ने 'उसने कहा था' फिल्म में शामिल करके इसको एक क्लासिक का दर्जा दे दिया था।

सुमंगला ने ये गाना तैयार तो किया था, पर कभी पब्लिक में परफ़ॉर्म नहीं किया था। सुमंगला नर्वस थी। सफ़दर ने उसके कंधे पर हाथ रखा, झुका, और उसके कान में बोला, 'सुमी, घबराओ मत। गाओ। बस गाओ।'

उसने गाना शुरू किया। उसकी आवाज़ में शहद भी था, फ़ौलाद भी। वो आवाज़ उसके अंदर किसी गहरे कोने से आ रही थी। उस आवाज़ की भरावट उसके इकहरे बदन से कहीं मेल न खाती थी। जैसे बफ़्रीली रात में कोई ठिठुरते बदन पर कंबल ओढ़ा दे, उस दिन उस नग़मे ने वो काम किया। भीड़ की हलचल थमने लगी। गीत के तिलिस्म ने भीड़ के गुस्से को जैसे नई ओर मोड़ दिया। कुछ था उनके अंदर जिसको उन अल्फ़ाज़ ने, उस आवाज़ ने झंकार दिया था।

कौन दुखिया है जो गा रही है  
भूखे बच्चों को बहला रही है,  
लाश जलने की बू आ रही है,  
ज़िंदगी है कि चिल्ला रही है!  
जाने वाले सिपाही से पूछो  
वो कहां जा रहा है।

एक मुस्लिम नाम वाले हैदराबादी कम्युनिस्ट शायर का लिखा वो चालीस साल पुराना गीत, एक बंगाली मौसीक्रार की धुन और हिंदू नाम वाली उस मलयाली लड़की की आवाज़, और सुनने वालों में सिखों की बड़ी तादाद, कुछ भी तो एक-दूसरे से मेल न खाता था।

कहाँ दूसरे विश्व युद्ध की हैबतनाक तबाही, कहाँ हमारे जमाने की फिरकापरस्ती—बात के आगाज और अंजाम में मीलों और दशकों का फ़ासला था। मगर उस सुरीली आवाज़ ने उस गहरी खाई, उस वादी के दोनों किनारों को मानो एक-दूसरे से मिला दिया था।

एक विपदा के मारे दुखियारों का दर्द दूसरी विपदा के मारों के दिल की आवाज़ बना, जैसे किसी पुराने वर्क पर आंसू की बूंद गिरे और स्याही, पानी और नमक, सब एकमएक हो जाएं। भीड़ में कोई सुबका। फिर किसी और के होंठ लरजे। देखते-देखते न जाने कितनी ही आंखें नम थीं, कितने ही दिल सिसकियां भरते थे।

फिर चार साल बाद खुद सफ़दर का क्रल्ल हुआ। 1 जनवरी 1989 को हम, यानी जन नाट्य मंच के कलाकार झंडापुर, साहिबाबाद गए थे, मज़दूरों के बीच नाटक करने। महीने-भर पहले दिल्ली, गाजियाबाद, फ़रीदाबाद के मज़दूरों ने सात दिन की एक शानदार हड़ताल की थी। दिल्ली के मज़दूर आंदोलन की यह आज तक की सबसे बड़ी हड़ताल है।

हमने इसी हड़ताल के हक़ में एक नाटक तैयार किया और खेला था—चक्का जाम। हड़ताल के बाद सफ़दर का मानना था कि हमें एक और नाटक लेकर मज़दूरों के बीच जाना चाहिए। इस नए नाटक का नाम था ‘हल्ला बोल।’

1 जनवरी 1989 का दिन; इतवार था। दिल्ली अभी गैस चेंबर में तब्दील नहीं हुई थी, सो जाड़े के अपने मजे होते थे। साफ़, नीला आसमान, चटख सदीली सुबह, मद्धम धूप—यूँ लगता था मानो पूरी क्रायनात मुस्कुरा रही है।

नाटक शुरू हुआ। कुछ दसेक मिनट हुए होंगे। डेढ़-दो सौ मज़दूर, उनके परिवार और बच्चे उसका मज़ा ले रहे थे। और तभी अचानक कोहराम मच गया। एक टुच्चे लोकल गुंडे की अगुवाई में कोई 30-40 शोहदों ने हम पर लाठी-सरिये बरसाने शुरू कर दिए। इस हमले में सफ़दर शहीद हुआ, लेकिन इससे पहले उसने 8-9 साथियों की जानें बचाईं।

एक मज़दूर, राम बहादुर, जो बेचारा नेपाल से अपनी रोटी-रोज़ी कमाने आया था और जिसकी बीवी ने कुछ ही महीने पहले एक बच्चे को जन्म दिया था, बेवजह क्रातिलों की गोली का शिकार हुआ। राम बहादुर की मौत मौक़े पर ही हो गई, और सफ़दर ने अगले दिन 2 जनवरी की रात दिल्ली के एक अस्पताल में दम तोड़ा।

सफ़दर 34 बरस का था—एक हसीन नौजवान, पक्का

कम्युनिस्ट, बेमिसाल फ़नकार, जो लेखक, अदाकार, निर्देशक, गीतकार, फ़िल्मकार, गायक और डिजाइनर—सब था। हरदिल अज़ीज़, सबका यार! उन जाहिल दरिंदों की लाठियों ने इस ग़ैरमामूली इंसान को तो हमसे छीन लिया, लेकिन उस शमा को नहीं बुझा पाए जो सफ़दर ने जलाई थी।

3 जनवरी को सफ़दर के जनाजे में कुछ 15,000 लोग शरीक़ थे। इनमें दिल्ली के हज़ारों आम शहरियों और मज़दूरों के साथ-साथ एक से एक अज़ीम फ़नकार भी थे, चोटी के बुद्धिजीवी थे, बेशुमार कलाकार थे, सहाफ़ी थे। दिल्ली ने किसी फ़नकार को ऐसा शानदार आख़िरी सलाम शायद ही कभी पेश किया हो।

अगर सफ़दर का जनाजा बेमिसाल था तो उसके बाद जो हुआ वो तो अल्फ़ाज़ के परे था। अगले ही दिन सुबह, जब सफ़दर की मौत को अभी 48 घंटे भी नहीं हुए थे, जन नाट्य मंच फिर उसी जगह लौटा जहाँ हमला हुआ था, अपना अधूरा नाटक पूरा करने। और ये किसकी रहनुमाई में हुआ?

मलयश्री हाशमी की। मलयश्री, जो खुद एक शानदार एक्टर हैं, एक अटल कम्युनिस्ट हैं, तकरीबन 1970-71 से जनवादी नाटक आंदोलन का हिस्सा रही हैं। सफ़दर की साथी, संगिनी और पत्नी।

मेरे ज़हन में कोई शक़ नहीं कि 4 जनवरी 1989 को मलयश्री ने जो किया वो सिर्फ़ एक नाटक नहीं था, वो इतिहास के पन्नों पर एक अमिट दस्तख़त था। अगले दिन पूरे मुल्क के तमाम अख़बारों की सुख़ियों में मलयश्री का नाम और तस्वीरें थीं।

मेरे घर ‘टाइम्स ऑफ़ इंडिया’ आता था, जिसने तस्वीर के नीचे लिखा था, ‘सफ़दर हाशमी की बेवा नाटक करते हुए’। कितनी सहजता से हम औरतों की पहचान मर्दों के साथ उनके रिश्ते तक महदूद कर देते हैं!

एक मज़दूर बस्ती के खूनी तिराहे पर मलयश्री ने नाटक इसलिए नहीं खेला था कि सफ़दर उनका महबूब, दोस्त, हमराह और शौहर था, बल्कि इसलिए कि मलयश्री खुद तकरीबन दो दशकों से जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन का हिस्सा रही थीं, और उस आंदोलन और अपने मज़दूर साथियों, दर्शकों की ओर उनका अटल कमिटमेंट था—और आज भी है।

आने वाले दिनों में शायद ही कोई ऐसा शहर या कस्बा रहा हो जहाँ इस हमले और सफ़दर की शहादत के खिलाफ़ जुलूस न निकले हों, जलसे न हुए हों, तक़रीरें न हुई हों। लेकिन ये विरोध आग की तरह पूरे मुल्क में नहीं फैलता अगर मलयश्री वो न करतीं जो उन्होंने किया।

यूँ तो थियेटर क्षणभंगुर होता है— एक सपना, एक माया, धुएँ का छल्ला होता। पर उस दिन थियेटर ठोस था। उसमें महक थी—पहले धान की खेती की महक।

आज, जब हम फ़नकारों और दानिशवरों पर हमलों के इतने आदी हो चुके हैं कि लोग, मजाक ही में सही, कभी-कभी कह ही देते हैं, 'अरे यार! तुम तो खुलेआम सरकार के खिलाफ़ नाटक करते हैं, फिर भी तुम्हारी हड्डी-पसली सलामत कैसे है?' तो यह सोचकर हैरानी होती है कि सफ़दर की मौत पर कितने हज़ारों लोग सड़कों पर उतरे थे— और फिर अपनी हैरानी पर हैरानी होती है।

लेकिन जैसा ब्रेख्त कहा करते थे, बदलाव लाने की खातिर हमें 'गुड ओल्ड डेज़' को याद करके जज़्बाती नहीं होना है, बल्कि 'बैड न्यू डेज़' से जूझने के लिए कमर कसनी है।

और अगर हमें इन बैड न्यू डेज़ से जूझना है, तो लाज़िमी है कि हड्डी-पसली सलामत रहें। कुछ पांच-छह साल पहले हमें फिलीस्तीन के मशहूर मसरा-अल-हुरीये, यानी द फ्रीडम थिएटर के साथ काम करने का मौक़ा मिला। फिलीस्तीन में वेस्ट बैंक के जेनिन शहर में यह थियेटर है। ये वही शहर है जहाँ हाल ही में मशहूर पत्रकार शिरीन अबू अकलेह का इज़रायली फ़ौज ने क़त्ल किया था।

द फ्रीडम थिएटर शुरू करने वालों में एक स्वीडिश आदमी था जोनाथन स्टैन्चेक; एक इज़रायली था जूलियानो मेर ख़ामिस और एक फिलीस्तीनी था ज़कारिया जुबेदी।

जोनाथन एक नर्स की हैसियत से फिलीस्तीन में काम करता था। लोगों के जिस्म और जिगर दोनों के दर्द को बखूबी समझता था। जूलियानो की मां इज़रायली यहूदी थी और बाप फिलिस्तीनी अरब। और वो शान से कहता था, 'मैं सौ फ़ीसदी यहूदी हूँ, और सौ फ़ीसदी अरब'! ज़कारिया जुबेदी अल अक्रसा शहीदी ब्रिगेड का मिलिट्री कमांडर था। इज़रायली फ़ौज ने उसको मारने की भरसक कोशिशें कीं पर हर बार वो बच निकला, क्योंकि उसके पास अवाम का साथ था।

ज़कारिया कहता है कि हमने बंदूक उठाई आज़ादी पाने के लिए, लेकिन यही बंदूक भाई को भाई से लड़वा भी सकती है। लिहाज़ा आज़ादी की मुहिम में जितनी बंदूक की, उतनी ही इल्म, फ़िक्र, और कल्चर की भी ज़रूरत है।

जब जूलियानो ने जेनिन रिफ्यूजी कैम्प के बच्चों से पूछा कि वे क्या बनना चाहते हो, तो उसे जवाब मिला, 'शहीद'। वो बेहद परेशान हुआ। यह कैसा अंधा कुंआ है जहाँ बच्चे कुछ

बनने के बजाय मर जाने की ख्वाहिश रखते हैं?

तब इन तीन सरकश मतवालों ने वो किया जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उन्होंने उसी रिफ्यूजी कैम्प में एक थियेटर शुरू कर दिया।

त्रासदी ये है कि जूलियानो खुद नहीं बचा। 2011 में एक नकाबपोश वहशी ने उसके जिस्म को ऐन थियेटर के सामने वाली गली में बंदूक की गोलियों से छलनी कर दिया। जूलियानो शहीद हुआ, पर ठीक सफ़दर ही की तरह वह सैकड़ों नौजवानों को जिंदगी और आज़ादी का सपना दे गया।

सफ़दर, जूलियानो, डॉ. दाभोलकर, गौरी लंकेश, शिरीन अबू अकलेह। नफ़रत के सौदागरों ने एक-एक को निशाना बनाया है। बस! अब बहुत हुआ। हम और शहीद नहीं चाहते।

हम चाहते हैं कि हमारे सारे कलाकार और दानिशमंद लंबी जिंदगियां पाएं और हमें अपने फ़न और ख़यालों से मालामाल करते रहें।

आज हमें कुछ चालाकी से, कुछ चतुरता से काम लेना है। हम इंदौर में हैं, जहाँ मराठी संस्कृति का असर है, और मेरी मातृभाषा भी मराठी है। सो वाजिब ही है कि आज की आख़िरी कहानी महाराष्ट्र से हो।

जैसा कि आप जानते हैं, छत्रपति शिवाजी मराठी इतिहास के और लोकप्रिय कल्चर के बड़े हीरो हैं। महाराष्ट्र में पिछले कुछ बरसों के बेहद कामयाब नाटकों में एक का नाम है—नाम पर गौर कीजियेगा—'शिवाजी अंडरग्राउंड इन भीमनगर मोहल्ला'!

नाम सुनकर ही लोगों में खलबली मचती है—शिवाजी अंडरग्राउंड इन भीमनगर मोहल्ला! नाम सुनकर ही लोगों में खलबली मचती है। शिवाजी अंडरग्राउंड क्यों हैं भाई? कौन उसके पीछे है कि उसे अंडरग्राउंड होना पड़े? वो भीमनगर में ही क्यों है? फिर इस दलित बस्ती को 'मोहल्ला' क्यों कहा जा रहा है?

नाटक बेहद मजेदार है। नाटक का आइडिया, गीत और संगीत संभाजी भगत का है, जो महाराष्ट्र के एक बेजोड़ इंकलाबी गीतकार और गायक हैं। नाटक करने वाली टीम जालना नाम के एक छोटे-से शहर से है, और टीम के ज़्यादातर कलाकार दलित और ग़रीब किसान परिवारों से हैं।

नाटक की शुरुआत में देवताओं के राजा इंद्र परेशान हैं क्योंकि राजा शिवाजी स्वर्ग से धरती पर गए थे—क्योंकि उनके विचार धरती पर खो गए हैं—लेकिन वे अभी तक लौटकर नहीं आए हैं। जाते समय वह अपनी पगड़ी स्वर्ग में छोड़ गए थे, सिक्वोरिटी डिपॉजिट के तौर पर।

अब इंद्र यमराज को धरती पर भेजते हैं, पगड़ी समेत, शिवाजी को खोजने। यमराज बेचारे हर राह-चलते, शिवाजी सरीखे को पगड़ी पहनाते जाते हैं, पर किसी को वो फिट ही नहीं बैठती।

हिंदुस्तान में प्रहसन माने फ़ार्स [farce] की परंपरा बहुत पुरानी है। आप संस्कृत नाटक पढ़िए, आपको बेशुमार मूर्ख ब्राह्मणों के क्रिस्से मिलेंगे, या लोभी शासकों के, या अक्ल से तंग कोतवालों और दारोगाओं के। शिवाजी अंडरग्राउंड इसी परंपरा का नाटक है, जिसमें आप हंसते बग़ैर रह नहीं सकते, लेकिन आप ये भी समझते हैं कि मुद्दा संजीदा है।

यह नाटक उन ताकतों पर चोट करता है जो शिवाजी को एक सियासी ब्रांड बनाकर अपनी दुकान चला रही हैं। नाटक के आखिर में एक मुकाबला होता है— गीतों का मुकाबला, जिसे हमारे यहां महाराष्ट्र में 'झगड़ा' कहते हैं। एक तरफ शिवाजी का सियासी ठेकेदार है जो बस इतना जानता है कि शिवाजी ने मुग़लों के खिलाफ़ जंग लड़ी थी—और इसी हवाले से वह साबित करना चाहता है कि वह एक मुसलमान-विरोधी, हिंदू राजा था—और समझता है कि उसने बाज़ी वाकई मार ली है।

दूसरी तरफ एक लोकशाहिर है जो उस्तादों का भी उस्ताद है! आप जानते ही होंगे कि महाराष्ट्र में शाहिरी सिलसिला बहुत पुराना है, खुद शिवाजी के ज़माने से चला आ रहा है। शाहिर ऐसे शायर और गायक होते हैं अपने लंबे नैरेटिव गानों में, बैलेड [ballad] की शैली में वीरों की कहानियां सुनाते हैं।

बाद में यही शाहिरी परंपरा कम्युनिस्ट और दलित आंदोलनों का हिस्सा बनी। कॉमरेड अण्णाभाऊ साठे, अमर शेख, शीतल साठे और खुद संभाजी भंगत इसी परंपरा के नुमाइंदे हैं।

ख़ैर, नाटक का शाहिर समझता है कि शिवाजी की जंग मज़हबी जंग नहीं, बल्कि सियासी जंग थी, मरकज़ी सरकार के खिलाफ़। यही नहीं, उसकी फ़ौज में कई मुसलमान सिपहसालार थे जिनके पास बड़ी ज़िम्मेदारी के ओहदे थे। शिवाजी का औरतों की ओर भी बड़ा संवेदनशील, बड़ा हस्पास नज़रिया था।

फिर लोकशाहिर बताता है कि किस वजह से शिवाजी मराठी अवाम के दिलों का बादशाह है—शिवाजी ने अपनी रियाया की ओर बड़ी हमदर्दी की नीतियां बनाईं और गांवों में जमींदारों और साहूकारों की ताकत पर वार किया। काश! कि आज के हमारे हुक्मरान शिवाजी से कुछ सबक लेते, तो किसानों को एक साल से ज्यादा दिल्ली के दरवाजे पर दस्तक नहीं देनी पड़ती, सात सौ से ज्यादा किसानों को शहादत नहीं देनी पड़ती।

ख़ैर, नाटक जब अपने अंजाम पर पहुंचता है तो सियासी ठेकेदार लाजवाब हो चुका है, वो ख़ामोश है, क्योंकि लोकशाहिर शिवाजी की जिन खूबियों का बयान करता है उनके बारे में उसे रती भर भी इल्म नहीं था।

इस ड्रामे के हजार से ज्यादा शो हो चुके हैं—और एक बार भी ड्रामे पर हमला नहीं हुआ है। क्योंकि ड्रामा चालाकी से अपनी बात कहता है। वह मख़ौल उड़ाता है—यकीनन, लेकिन शिवाजी का नहीं, उसके सियासी ठेकेदारों का।

और दरअसल यह मख़ौल भी नहीं है, हकीकत है, मज़हब के नाम पर सियासत करने वाले अपनी ही तारीख़, अपने ही कल्चर से नावाक्रिफ़ होते हैं, उसकी खूबियों और ऊंचाइयों का उन्हें कोई इल्म नहीं होता। और जब कोई, उन्हीं के हीरो के हवाले से, हंसते-हंसाते, उनकी टांग खींच जाता है तो बेचारों के पास खिसियानी बिल्ली के माफ़िक़ खंभा नोचने के अलावा कोई चारा नहीं बचता।

ज्योतिरेंद्र मोइत्रा, बिजोन भट्टाचार्य और तृप्ति मित्रा ने अकाल की पूरी त्रासदी को अपनी क्लम और अपने जिस्म से जाहिर किया। सफ़दर हाशमी ने ये समझा कि मख़दूम की नज़्म कराहते दिलों को छू सकती है और सुमंगला की आवाज़ ने तपते जहनों को ठंडक पहुंचाई।

एक मज़दूर बस्ती के खड़ुंजे पर गिरे खून से हज़ारों फूल खिले, जब मलयश्री ने सफ़दर की चिता की राख ठंडी होने से भी पहले उसी जगह जाकर दोबारा नाटक खेला। जूलियानो मेर ख़ामिस ने फिलिस्तीन के बच्चों को ड्रामे के ज़रिये जीने की उम्मीद दी। और संभाजी भगत और जालना के दलित और किसान अदाकार मज़हबी और सियासी ठेकेदारों को ठेंगा दिखाया।

क्या ये सब प्रतिरोध के उदाहरण हैं? मैं कहता हूँ, नहीं! ये सब इंसानियत के, ज़िंदगी के मूल्यों के उदहारण हैं। ये हमें हिम्मत और हौसला देते हैं, एक बेहतर, प्रेम से सींचे समाज के निर्माण का सपना देखने की ताकत देते हैं। साहिर के शब्दों में,

*आओ कि कोई ख़्वाब बुनें कल के वास्ते*

*वरना ये रात आज के संगीन दौर की*

*डस लेगी जान औ' दिल को कुछ ऐसे कि जान औ' दिल*

*ता-उम्र फिर न कोई हसीं ख़्वाब बुन सकें।*

(सुधन्वा देशपांडे 1987 से जन नाट्य मंच, दिल्ली, का हिस्सा हैं।)

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)



# भारतीय आप्रवासियों के रास्ते क्या जातिगत भेदभाव विदेशों में भी पैठ बना रहा है?

सुभाष गाताडे

//

‘जाति का सवाल एक प्रचंड मसला है, सैद्धांतिक तौर पर और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर। व्यावहारिक तौर पर देखें तो वह एक ऐसी संस्था है जो जबरदस्त प्रभाव पैदा करती है। वह एक स्थानीय समस्या है, लेकिन वह काफी हानि पहुंचा सकती है; जब तक भारत में जाति का अस्तित्व है, हिंदू शायद ही कभी रोटी-बेटी का व्यवहार करेंगे या बाहरी लोगों के साथ सामाजिक अंतर्क्रिया करेंगे; और अगर हिंदू पृथ्वी के अन्य इलाकों में पहुंचेंगे तो भारतीय जाति विश्व की समस्या बन सकती है।’

— डॉ. आंबेडकर, ( 1916 )

वर्ष 1916 का साल था, जब कोलंबिया यूनिवर्सिटी के मानववंश विज्ञान (एंथ्रोपोलॉजी) विभाग के सेमिनार में बोलते हुए युवा आंबेडकर ने यह सटीक भविष्यवाणी की थी कि किस तरह ‘जाति विश्व की समस्या बन सकती है’ जब हिंदू भारत के बाहर यात्रा करेंगे और वहां बसेंगे। एक सदी से अधिक का वक्फा गुजर गया और हम देख रहे हैं कि किस तरह जाति को लेकर उनकी यह भविष्यवाणी भी सही साबित होती दिख रही है।

एक अग्रणी कॉर्पोरेट का मसला शायद यही बता रहा है। ऐसे मौके बहुत कम आते हैं जब कोई न्यूज एग्रीगेटर (संकलक)- जो दुनिया भर के हजारों प्रकाशकों एव पत्रिकाओं से खबरों, आलेखों को अपने पाठकों तक पहुंचाता रहता है, वह खुद सुखियां बने।

विश्व की सबसे बड़े न्यूज एग्रीगेटर में शुमार किए जाने वाले गूगल न्यूज के साथ पिछले दिनों यहीं वाक्या हुआ, जब वह खुद दुनिया भर के अखबारों, वेबसाइट्स पर खबर बना, जब जाति के प्रश्न पर अपने ही कर्मचारियों को संवेदनशील बनाने के लिए कंपनी द्वारा ही आयोजित

व्याख्यान को आनन-फानन रद्द कर दिया गया।

याद रहे डॉ. आंबेडकर का जिस माह में इंतकाल हुआ, उस अप्रैल माह को केंद्रित करते हुए पिछले कुछ सालों से पश्चिमी जगत में ‘दलित हिस्ट्री मंथ’ अर्थात ‘दलित इतिहास के महीने’ में कार्यक्रमों का आयोजन होता है। मकसद यही होता है कि शेष आबादी को जो दलित उत्पीड़न की विशिष्ट समस्या से, उसके संघर्षों से, उसकी जद्दोजहद से परिचित नहीं है, वह चीजों को समग्रता में जाने।

गूगल न्यूज द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम में थैनमोजी सौंदरराजन, जो अमेरिका में ही दलित अधिकारों की हिफाजत के लिए लंबे समय से सक्रिय रही हैं तथा जो इक्रलिटी लैब्स नामक नॉन प्रॉफिट अर्थात एक स्वयंसेवी संस्था की अग्रणी हैं- को बात रखनी थी।

याद रहे दलित अधिकारों की हिफाजत के लिए उनकी स्थिति के दस्तावेजीकरण से लेकर उन पर हो रहे अन्यायों को दूर करने के लिए वह मुहिमों में शामिल रहती आई हैं।

सब कुछ तय था और अचानक खबर आई कि थैनमोजी का यह प्रस्तावित व्याख्यान कंपनी की तरफ से रद्द कर दिया है। मामला यहीं खत्म नहीं हुआ, इस आकस्मिक फैसले में कंपनी की एक सीनियर मैनेजर— जिन्होंने थैनमोजी से संपर्क किया था और उन्हें निमंत्रण दिया था—उन्होंने कंपनी से इस्तीफा दे दिया।

सबसे ताज्जुब की बात इसमें यह भी उजागर हुई है कि इस कॉरपोरेट समूह के प्रमुख भारतीय मूल के सुंदर पिचाई ने— जिनसे इतनी तो उम्मीद की जा सकती थी कि वह जाति की समस्या से वाकिफ होंगे—इस मामले में बिल्कुल मौन बनाकर रखा और एक तरह से जाति की जीवंत समस्या के प्रति अपनी गहरी असंवेदनशीलता और पूर्वाग्रह का प्रदर्शन किया।

यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि अमेरिका की अग्रणी कॉरपोरेट टेक कंपनियों में, जार्ज फ्लॉयड की हत्या के बाद तथा ब्लैक लाइव्स मैटर के आंदोलन के चलते उठी सरगर्मियों के चलते, एक तरह से सामाजिक मुद्दों को लेकर एक नई संवेदनशीलता जागती दिख रही है और इसी के तहत कई कंपनियों ने इसी मुद्दे पर अपने कर्मचारियों एवं अधिकारियों से वार्तालाप करने के लिए इसके पहले सौंदरराजन को आमंत्रित किया था। माइक्रोसॉफ्ट, सेल्सफोर्स, एयरबीएनबी, नेटफिलक्स और एडोबे जैसी अग्रणी कंपनियों द्वारा अपने यहां ली गई इस पहल की तारीफ भी हो रही थी।

बाद में पता चला कि कंपनी द्वारा लिया गया यह निर्णय साफ तौर पर दबाव के तहत लिया गया, जिसके पीछे गूगल न्यूज के उन मुलाजिमों द्वारा चलाए गए एक जहरीले अभियान का हाथ था, जिन्होंने आमंत्रित वक्ता को 'हिंदू द्रोही' या हिंदू द्वेषी' कहलाते हुए जबरदस्त मुहिम चलाई थी।

कंपनी के लीडरों और गूगल इंटरनेट तथा उसके हजारों कर्मचारियों की ईमेल सूची में इसे 'प्रमाणित' करने के लिए तमाम दस्तावेज साझा किए गए थे। जाहिर सी बात है इस मुहिम के पीछे भारतीय मूल के कंपनी के कर्मचारी आगे थे, जिनका बहुलांश कथित ऊंची जातियों से आता है।

तयशुदा बात है कि उन्हें इस बात से कतई गुरेज नहीं था कि अमेरिका में बसे 15 लाख से अधिक भारतीय, जो अपने आप को 'मॉडल माइनोंरिटी' कहलाने में फक्र महसूस करते हैं, जिनमें दलित अमेरिकियों की आबादी डेढ़

प्रतिशत से अधिक नहीं हैं, ऐसी घटनाओं में इजाफा हो रहा है जहां दलित अमेरिकियों को अपने कथित ऊंची जाति के सहयोगियों के हाथों जातीय उत्पीड़न, गाली-गलौज आदि का सामना करना पड़ता है, वहां इस मसले पर अब कुछ करने की आवश्यकता है।

सौंदरराजन के खिलाफ जो संगठित मुहिम चलाई गई तथा गूगल प्रबंधन को दबाव में लाया गया, उसके तेवर को देखते हुए यही प्रतीत हो रहा था कि यह अब कोई उपरोक्त प्रतिष्ठान/संगठन के अंदर का मामला नहीं रहा था। इस पूरे घटनाक्रम पर वॉशिंगटन पोस्ट ने बाकायदा टिप्पणी की कि आप्रवासी भारतीयों के रास्ते अब किस तरह 'हिंदू राष्ट्रवादी आंदोलन' अमेरिका के गूगल न्यूज तक भी पहुंच गया है।

ऐसे विभिन्न हिंदुत्ववादी संगठन तथा रूढ़िवादी हिंदू संगठन जो इसके पहले भी वहां इक्रॉलिटि लैब्स और दलित अधिकारों की हिमायत के लिए सक्रिय तंजीमों के साथ कार्यस्थलों पर दलित अमेरिकियों को झेलने पड़ते भेदभाव तथा स्कूली पाठ्यक्रम की अंतर्वस्तु जैसे मसलों पर पहले भी उलझ चुके हैं, वह भी इस मुहिम में पिछले दरवाजे से सक्रिय रहे हैं। सिस्को सिस्टम में जातिगत भेदभाव का मसला अभी चर्चा में ही है।

आप कह सकते हैं कि गूगल न्यूज द्वारा जाति के प्रश्न पर व्याख्यान को रद्द करना या अपने संगठन के अंदर मौजूद जातिगत पूर्वाग्रहों पर चर्चा से भी इनकार करना, इन बड़े कॉरपोरेट्स के असली चरित्र को उजागर करता है। विडंबना ही है कि गूगल न्यूज कोई अपवाद नहीं है।

महज दो साल पहले सिस्को सिस्टम्स, जो सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में एक दूसरा बड़ा कॉरपोरेट समूह है— एक दलित कर्मचारी द्वारा उसके दो वरिष्ठ मैनेजरों के हाथों, जो दोनों कथित ऊंची जाति से ताह्लुक रखते थे, झेली जा रही जातिगत प्रताड़ना की घटना से सुर्खियों में था। इस बात के दस्तावेजी प्रमाण उपलब्ध थे कि किस तरह वेतन में बढ़ोतरी रोककर या महत्वपूर्ण निर्णय प्रक्रियाओं से उसे बाहर करके इन दो मैनेजरों ने अपने पूर्वाग्रहों का ही प्रदर्शन किया था।

कर्मचारी द्वारा कंपनी को की गई शिकायत के बावजूद इस मसले पर कंपनी के आला अफसरान ने चुप्पी ही बरती। बाद में इस घटना से उद्वेलित इक्रॉलिटि लैब्स, आंबेडकर इंटरनेशनल सेंटर तथा अन्य संगठनों ने अपनी आवाज बुलंद की तथा कैलिफोर्निया राज्य की चुप्पी पर सवाल उठाया।

कैलिफोर्निया राज्य ने फिर नागरिक अधिकार कानून— जो अश्वेतों द्वारा समान अधिकार हासिल करने के लिए 60 के दशक में चली व्यापक मुहिम का नतीजा था—के तहत कंपनी पर मुकदमा कायम हुआ जो आज भी चल रहा है।

स्पष्ट है कि सिस्को मामले में कंपनी के खिलाफ आया कोई भी फैसला (जिसकी उम्मीद ज्यादा है) न केवल कंपनी की अपनी छवि को नुकसान पहुंचाएगा, लेकिन कंपनी को न केवल अपने इन सीनियर मैनेजर्स के खिलाफ कार्रवाई करनी पड़ेगी और पीड़ित कर्मचारी को जबरदस्त मुआवजा देना पड़ेगा।

ऐसी घटना न केवल एक नज़ीर बनेगी, जिससे प्रेरित होकर अन्य दलित अमेरिकी—जो अपने यहां प्रताड़ना झेल रहे हैं—भी अपनी आवाज़ बुलंद कर सकते हैं। इतना ही नहीं यह व्यापक हिंदू एकता के हिंदुत्ववादी समूहों के फर्जी दावों की हवा निकाल देगा और हिंदुओं की आपसी दरारों को फिर एक बार जनता के सामने लाएगा।

चाहे गूगल न्यूज का मसला हो, कैलिफोर्निया राज्य के पाठों की पुनर्रचना करनी हो या सिस्को सिस्टम में दलित कर्मचारी के साथ जारी भेदभाव को जुबां देनी हो, आप बार-बार यही पाएंगे कि इकलित लैब्स, आंबेडकर इंटरनेशनल सेंटर आदि संगठनों तथा अन्य हिंदुत्ववादी समूहों के बीच—जिनमें से कई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राजनीति से इत्तेफाक रखते हैं— एक दूरी बनी है।

यह दूरी बदलाव की ताकतों एवं यथास्थिति की ताकतों के बीच की दूरी के तौर पर मौजूद रहेगी, जब तक चीजें गुणात्मक तौर पर नहीं बदलतीं।

दिलचस्प है कि यथास्थिति की हिमायती हिंदुत्ववादी ताकतें और अमेरिका की श्वेत वर्चस्ववादी ताकतों के बीच एक मसले पर जबरदस्त एका दिखता है। मालूम हो श्वेत वर्चस्ववादी ताकतें 'क्रिटिकल रेस थियरी' जैसे विषय को अमेरिकी पाठ्यक्रम में शामिल करने की विरोधी रही हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि इसके चलते पुराने जख्म कुरेदे जाएंगे और बच्चों के मानस पर विपरीत असर पड़ेगा।

अपने संगठित प्रयासों से वे अमेरिका के कई राज्यों में इस विषय के अध्यापन पर पाबंदी लगा चुकी हैं, वही हाल जाति के मसले को शामिल करने को लेकर हिंदुत्ववादी ताकतों का है।

साल 2005 में कैलिफोर्निया राज्य के पाठ्यक्रम की

समीक्षा के दौरान इस मसले पर यह दोनों धाराएं आपस में टकराती दिखीं, जहां तमाम सारी याचिकाएं, प्रतियाचिकाएं पेश की गईं और एक तरह से दलित अधिकार समूहों, मानवाधिकार संगठनों को जीत मिली। उन्हीं दिनों इस समूचे मसले को लेकर दलित एक्टिविस्ट सौंदरराजन का एक आलेख काफी प्रासंगिक था :

'वहां आप्रवासी भारतीयों के एक हिस्से में सक्रिय 'धर्मा सिविलाइजेशन फाउंडेशन' जैसे समूहों की तरफ से यह दलील दी जा रही है कि हिंदुओं में जाति और पुरुषसत्ता का चित्रण किया जाएगा तो वह 'हिंदू बच्चों को हीनभावना' से ग्रसित कर देगा और उनकी 'प्रताड़ना' का सबब बनेगा, लिहाजा उस उल्लेख को टाला जाए।'

और वह बताती हैं कि ऊपरी तौर पर आकर्षक लगने वाली यह दलील दरअसल सच्चाई पर परदा डालने जैसी है क्योंकि वही तर्क फिर नस्लवाद के संदर्भ में भी इस्तेमाल किया जा सकता है और किताबों से उसकी चर्चा को गायब किया जा सकता है।

वर्ष 2015 में जब यह सिलसिला फिर आगे चला (कैलिफोर्निया राज्य में यह सिलसिला हर दस साल पर चलता है) तो फिर इस दौरान धार्मिक-सांस्कृतिक जमातों, हिंदुत्ववादी संगठन हावी रहे। पाठ्यक्रम से जाति की चर्चा को धुंधला/सौम्य करने का या मुसलमानों, सिखों और ईसाई इतिहास को पाठ्यक्रम से बाहर का रास्ता दिखाने का रास्ता मजबूत हुआ।

इस बात पर जोर दिया जाना जरूरी है कि विचारों के इस संघर्ष में जहां वास्तविक न्याय और समानता के मुद्दे आगे आ रहे हैं और व्यापक एकता के फर्जी दावों को लेकर—जो समाज के सदियों पुरानी दरारों पर परदा डालना चाहते हैं—चुनौतियां बढ़ रही हैं; हम यह भी पा रहे हैं कि जाति एवं उससे जुड़े भेदभावों की चर्चा करने या उन्हें संबोधित करने के लिए नए-नए रास्ते भी खुल रहे हैं।

इस साल की शुरुआत में कैलिफोर्निया स्टेट यूनिवर्सिटी की तरफ से उनकी भेदभाव संबंधी नीति में जाति को भी जोड़ा गया है। अमेरिका की यह सबसे बड़ी पब्लिक यूनिवर्सिटी है, जिसके 23 विभिन्न परिसर हैं और हजारों की संख्या में छात्र वहां पढ़ते हैं। अब वहां अगर दलित छात्रों के साथ कोई अन्याय होता है तो उसकी शिकायत वह वहां कर सकेंगे।

# पर्यावरण दिवस पर पूंजीवाद के विनाश चक्र को रोकने की शपथ लें

एक बेहतर, स्वस्थ समाज के लिए मजदूर, किसान और नौजवान को जलवायु प्रदूषण को गम्भीरता से लेना होगा, नहीं तो आने वाले समय में सिर्फ दिल्ली ही नहीं पूरा देश एक गैस चैम्बर बन जाएगा और लोग घुट-घुट कर मरने को मजबूर हो जाएंगे।

जलवायु परिवर्तन भारत ही नहीं विश्व के लिए सब से बड़ा खतरा बन कर सामने आया है। 1992 से अब तक विश्व समुदाय की इस मामले में 26 बैठकों का आयोजन हो चुका है। संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन कांफ्रेंस की 26वीं बैठक ग्लासगो [स्कॉटलैंड] में हुई।

इस बैठक में बड़ी पूंजीवादी ताकतों, बैंकों और जलवायु विनाश के लिए जिम्मेदार तेल कम्पनियों के प्रतिनिधियों की बड़ी जमात शामिल हुई। दुनिया के सबसे बड़े प्रदूषण फैलाने वाले जब इस सम्मेलन में शामिल हों तो उससे इसकी जलवायु संकट से निपटने की गंभीरता पर सवाल खड़ा होता है।

इस सम्मेलन में पर्यावरणीय कार्यकर्ता और इस क्षेत्र में कार्य करने वाले सामाजिक लोगों को भाग लेने की अनुमति नहीं थी। इससे यह साबित होता है कि नेताओं और पूंजीपतियों का गठजोड़ जलवायु परिवर्तन पर गंभीर नहीं है। बल्कि हर साल इस तरह की बैठकों को पिकनिक स्थल के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

पूंजीवादी व्यवस्था मेहनतकशों के साथ-साथ प्रकृति का भी शोषण करती है। इसका खमियाजा पूरे समाज को भुगतना पड़ता है। इससे सबसे ज्यादा प्रभावित आम मेहनतकश लोग ही होते हैं क्योंकि उनके पास प्रदूषण से बचने के लिए कोई भी सुरक्षा नहीं होती है।

जैसे-जैसे दुनिया 'विकास' के मार्ग पर तेजी के साथ बढ़ रही है, यह बढ़ते जलवायु संकट का सामना भी कर रही है। इसे बाढ़, सूखे, तूफानों, चक्रवाती तूफानों, समंदर के जलस्तर में बढ़ोतरी, भीषण आग लगने और नई वैश्विक महामारियों की बढ़ती घटनाओं में देखा जा सकता है। इसका सर्वाधिक शिकार

सबसे गरीब, हाशिए पर पड़े लोग और भारी कर्ज में दबे देश होते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक वायु प्रदूषण दिल की बीमारियों, फेफड़ों के रोगों, फेफड़ों के कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियों के जोखिम बढ़ाने वाला एक प्रमुख कारण है। साँस की नली में संक्रमण का जोखिम भी इससे बढ़ जाता है और दमे की समस्या गम्भीर हो जाती है।

दिल्ली को लगातार तीसरी बार दुनिया की सबसे प्रदूषित राजधानी का तमगा मिला है। हर साल की तरह इस बार भी ठंड के मौसम में दिल्ली-एनसीआर एक गैस चैम्बर बन गया था, जिसमें लोगों के दम घुट रहे थे।

आज समय आ गया है जब जलवायु परिवर्तन को लेकर समाज के हर तबके को अपने स्तर पर कुछ न कुछ प्रयास करने पड़ेंगे। 5 जून दुनियाभर में पर्यावरण दिवस के रूप में मनाया जाता है।

इस दिन हम सबको मिलकर पर्यावरण को बचाने का एक काम अपने स्तर पर करने की शपथ लेनी पड़ेगी जैसे हम सब मिलकर हर साल 5 फलदार वृक्ष लगाएंगे; किसान अपने खेतों में रासायनिक खाद का प्रयोग न करके ज्यादा से ज्यादा फसल जैविक खेती के माध्यम से उगाएंगे और सरकार से बीज और सब्सीडी की मांग करेंगे; कार्बन उत्सर्जन करने वाली कम्पनियों के खिलाफ मिलकर आवाज उठाएंगे कि वे जितना कार्बन वायु में छोड़ती हैं, उन्हें उससे दुगना कार्बन वायु से साफ करना पड़ेगा, तभी वे फैक्ट्री चला सकती हैं इत्यादि।

इस तरह से एक बेहतर, स्वस्थ समाज के लिए मजदूर, किसान और नौजवान को जलवायु प्रदूषण को गम्भीरता से लेना होगा, नहीं तो आने वाले समय में सिर्फ दिल्ली ही नहीं पूरा देश एक गैस चैम्बर बन जाएगा और लोग घुट-घुट कर मरने को मजबूर हो जाएंगे।

साभर : mehnatkash.in

# द कश्मीर फाइल्स ने हिंदुत्ववादियों को मुस्लिमों के खिलाफ ज़हर उगलने का बहाना दे दिया है

अलीशान जाफ़री/कौशिक राज

//

सिनेमाघरों में द कश्मीर फाइल्स देखने वालों के नारेबाज़ी और सांप्रदायिक जोश से भरे वीडियो तात्कालिक भावनाओं की अभिव्यक्ति लगते हैं, लेकिन ऐसे कई वीडियो की पड़ताल में कट्टर हिंदुत्ववादी कार्यकर्ताओं और संगठनों की भूमिका स्पष्ट तौर पर सामने आती है।

करीब दो सप्ताह पहले प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी भी भारतीय जनता पार्टी के उन नेताओं की सूची में शामिल हो गए, जिन्होंने निर्देशक विवेक रंजन अग्निहोत्री की विवादास्पद नई फिल्म द कश्मीर फाइल्स का समर्थन और प्रचार किया है।

मोदी ने दावा किया कि फिल्म ने कश्मीरी पंडित समुदाय के खिलाफ हिंसा के बारे में सच्चाई को दिखाया है, साथ ही उन्होंने गुमनाम लोगों पर इसके कंटेंट को बदनाम करने की कोशिश करने का आरोप भी लगाया।

जहां आलोचकों ने वास्तव में कश्मीर मुद्दे पर फिल्म के दृष्टिकोण पर सवाल उठाया है, वहीं अधिक चिंता की बात वो रवैया है, जो संघ परिवार और भाजपा कार्यकर्ताओं-नेताओं द्वारा बड़े पैमाने पर मुस्लिम विरोधी नफरत को भड़काने के लिए फिल्म को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के लिए अख्तियार किया जा रहा है।

फिल्म के सिनेमाघरों में आने के शुरुआती हफ्तों में वहां से आक्रामक युवकों के हिंसा भड़काने और मुसलमानों के बहिष्कार का आह्वान करने वाले कई वीडियो सामने आए हैं। इनमें से कुछ वीडियो को भाजपा नेताओं द्वारा लोकप्रिय बनाया गया है, संभवतः यह इशारा करने के लिए कि फिल्म ने आम हिंदुओं को छुआ है।

लेकिन सिनेमाघरों के अंदर ये नफरत भरे भाषण देने वाले लोग कौन हैं? इंटरनेट पर आए वीडियो फिल्म देखने वालों में फिल्म देखने वालों के भीतर उपजी सांप्रदायिक भावनाओं की एक सहज और तात्कालिक अभिव्यक्ति लग सकते हैं, लेकिन द वायर द्वारा की गई इन वीडियो क्लिप की समीक्षा बताती है कि इन नफरती वीडियो में देखे गए कई पुरुषों का मुस्लिम विरोधी अभियानों, मुसलमानों के खिलाफ हिंसक विरोध और कई अन्य हिंदुत्व गतिविधियों में सक्रिय रूप से शामिल होने का इतिहास रहा है।

मिसाल के लिए, सिनेमाघरों में हेट स्पीच देते दिखाई देने वाले दो लोग—दीपक सिंह और विनोद शर्मा—लंबे समय से सांप्रदायिक अभियानों का हिस्सा रहे हैं। ये दोनों कार्यकर्ता 30 जनवरी, 2020 को किसान आंदोलन के खिलाफ हिंदुत्व प्रायोजित भीड़, जिसे मीडिया द्वारा 'प्रदर्शन चलते होने वाली असुविधा से नाराज स्थानीय प्रदर्शनकारियों' के रूप में पेश किया था, का भी हिस्सा थे।

इनमें से कई अन्य लोग हेट स्पीच देने और 'लव जिहाद' जैसे मुद्दों पर नफरत फैलाने या मुसलमानों के सामाजिक-आर्थिक बहिष्कार का आह्वान करने में सक्रिय रहे हैं। इन कार्यकर्ताओं द्वारा

बनाए और पोस्ट किए गए वीडियो यह स्पष्ट करते हैं कि फिल्म हिंदुत्व इकोसिस्टम के लिए नफरत के अंगारों को भड़काने का एक जरिया बन गई है।

### **‘लव जिहाद’, ‘जनसंख्या जिहाद’ का फ़र्जी हौवा और मुस्लिम महिलाओं से बदला लेने का आह्वान**

हिंदुत्व नेता पंकी चौधरी के करीबी सहयोगी राकेश सिसोदिया, जिन्हें पिछले साल जंतर-मंतर हेट स्पीच मामले के सिलसिले में गिरफ्तार किया गया था, ने ग्रामीणों के एक समूह को प्रोजेक्टर पर द कश्मीर फाइल्स दिखाई। अपने फेसबुक पेज पर उन्होंने मुसलमानों से बदला लेने की अपील करते हुए भड़काऊ पोस्ट डाली, ‘क्या कश्मीरी हिंदुओं का बदला लेना चाहिए? कश्मीर जैसे मुस्लिम आपके पड़ोसी भी हैं लेकिन अभी जनसंख्या में कम हैं, जिस दिन बराबर हो गए ये हाल हर जगह होगा। एक हरे और सतर्क रहें।’

पश्चिम दिल्ली से भाजपा सांसद प्रवेश साहिब सिंह द्वारा साझा किए गए एक वीडियो में एक अज्ञात व्यक्ति को एक थिएटर में अपने भाषण में यह कहते हुए सुना जा सकता है कि ‘अगर हम धर्मनिरपेक्षता नहीं छोड़ते हैं, तो कश्मीर के बाद यह केरल और पश्चिम बंगाल में दोहराया जाएगा। हमने दिल्ली में दंगे देखे हैं जिसमें ताहिर हुसैन ने नेगी को मार डाला था।’

उल्लेखनीय है कि दिल्ली विधानसभा चुनाव 2020 के प्रचार के दौरान प्रवेश साहिब सिंह ने कहा था कि अगर शाहीन बाग में नागरिकता संशोधन कानून (सीएए) और एनआरसी के खिलाफ प्रदर्शन जारी रहा तो दिल्ली में कश्मीर जैसे हालात बन जाएंगे और प्रदर्शनकारी आपके घरों में घुस सकते हैं और ‘आपकी बहन-बेटियों का बलात्कार कर सकते’ हैं।

दक्षिणपंथी हिंदू सेना के नेता सुशील तिवारी, जिन्हें भी जंतर मंतर हेट स्पीच मामले में गिरफ्तार किया गया था, को लखनऊ में फिल्म देखने के बाद हिंदुओं को चेतावनी देने वाले एक वीडियो में देखा जा सकता है। वे कहते हैं, ‘अगर भारत का हिंदू अब भी नहीं जागा तो 30 साल पहले कश्मीर में जो घटना हुई, वह मात्र 15 साल बाद पूरे देश में दोहराई जा सकती है।’

तिवारी कहते हैं कि मुस्लिम अपनी ‘खतरनाक जनसंख्या वृद्धि से देश पर कब्जा करने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि अगर मुस्लिम जनसंख्या वृद्धि को कानूनों के माध्यम से नियंत्रित नहीं किया गया तो वे हिंदुओं का नरसंहार करेंगे। उन्होंने आगे मुस्लिम बच्चों को ‘संपोले’ बताते हुए कहा कि ‘जो आज 14-15 बरस के हैं, वे 18 के हो जाएंगे, और आज जो 50 विधर्मी उत्तर प्रदेश विधानसभा में पहुंचे हैं, ये पंद्रह साल बाद दो सौ हो जाएंगे। ये बहुमत में होंगे और फिर देश के हिंदू का वही

हश्र होगा जो कश्मीर के हिंदुओं का हुआ।’

तिवारी की ही तरह कट्टर दक्षिणपंथी नेता दीपक सिंह हिंदू भी 12 मार्च 2022 को अपने समूह के अन्य लोगों के साथ फिल्म देखने पहुंचे। सिनेमाघर में जब पुलिस ने उन्हें वहां नारेबाजी से मना किया तो इस समूह की पुलिस से झड़प हुई। पुलिस ने उनसे ‘कानून और व्यवस्था बनाए रखने’ को कहा था।

दीपक सिंह हिंदू वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने दो साल पहले 23 फरवरी, 2020 की सुबह हिंदुओं से उत्तर-पूर्वी दिल्ली में मुस्लिम विरोधी हिंसा का केंद्र रहे मौजपुर में ‘धार्मिक युद्ध’ के लिए इकट्ठा होने का आह्वान किया था और जिन्हें हाल ही में जंतर मंतर हेट स्पीच और जनसंहार का आह्वान करने के सिलसिले में गिरफ्तार किया गया था।

दीपक सिंह ने भी फिल्म के सहारे मुस्लिमों की बढ़ती आबादी को लेकर फैलाए हौव्वे को हवा देने का प्रयास किया है। 19 मार्च 2022 को एक फेसबुक पोस्ट में उन्होंने लिखा, ‘जनसंख्या नियंत्रण और समान नागरिक संहिता पर कार्य न हुआ तो द कश्मीर फाइल्स देखने के लिए सिनेमाघरों में नहीं जाना पड़ेगा, सब लाइव देखने को मिलेगा।’

एक अन्य वायरल वीडियो में एक अनाम व्यक्ति सिनेमा हॉल में बेहद उत्तेजना के साथ दर्शकों को संबोधित करते हुए हिंदुओं को मुस्लिमों द्वारा आबादी बढ़ाने से रोकने के लिए कह रहा है। इस व्यक्ति को कहते सुन सकते हैं, ‘जो 20-25 साल से कम है, अगर हर वो लड़का मुसलमान लड़की से शादी करना शुरू कर दे तो तीन पीढ़ी के अंदर इनकी जनसंख्या आधी से कम हो जाएगी। इनकी लड़कियों से शादियां करो, इनके बच्चे पैदा करने कम करो। हम यहां फिल्म देख रहे हैं, वो वहां अपने घरों अपनी आबादी बढ़ा रहे हैं।’

### **‘गद्दारों’ और मुस्लिमों को मारने का आह्वान**

देश के कई सिनेमाघरों से लोगों द्वारा ‘देश के गद्दारों को, गोली मारो \*\*\*\* को’ का नारा लगाते हुए वीडियो भी वायरल हुए हैं। यह नारा सीएए समर्थक प्रदर्शनों में भाजपा नेता कपिल मिश्रा द्वारा दिए जाने के बाद चर्चा में आया था।

पिछले साल जब एक साक्षात्कार के दौरान द वायर ने मिश्रा से उनके द्वारा जामिया मिलिया इस्लामिया और अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी (एएमयू) के छात्रों को गोली मारने के नारे के बारे में सवाल किया तब उन्होंने पहले तो ऐसा कुछ कहने से ही इनकार कर दिया। जब उन्हें उन्हीं का वीडियो दिखाया गया, तब उन्होंने कहा कि ‘गोली मारो \*\*\*\* को नारा लगाने में कोई हर्ज नहीं है और दो शब्दों की राइम (तुकबंदी) हो रही है, इसलिए लोग बोलते हैं।’

गौरतलब यह भी है कि उनके यह नारा देने के ग्यारह दिन के भीतर ही दो नौजवानों ने जामिया और शाहीन बाग में उस समय चल रहे शांतिपूर्ण प्रदर्शनों में गोली चलाई।

इस बार बिजनौर के एसआरएस सिनेमा से द कश्मीर फाइल्स देखकर बाहर निकल रहे आरएसएस से संबद्ध हिंदू जागरण मंच के सदस्यों द्वारा यह नारा लगाया गया। नारे लगाने में अगुआ थे मंच के जिला महामंत्री क्षत्रिय अंशुल आर्य। उन्होंने और मंच के कई सदस्यों ने वीडियो अपने फेसबुक एकाउंट से पोस्ट किए।

बिजनौर के ही एक अन्य थिएटर के वीडियो में एक अनाम शख्स मुस्लिमों के नरसंहार का आह्वान कर रहा है। भाजपा जिंदाबाद के नारे के साथ वह 'जब मुझे काटे जाएंगे, राम राम चिल्लाएंगे' कहता है।

जुलाई 2021 में यह नारा हरियाणा में हुई महापंचायतों में जामिया में गोली चलाने वाले लड़के द्वारा भी दिया गया था। इसके एक महीने बाद सात अगस्त 2021 को यह नारा जंतर-मंतर पर गूंजा, जहां भाजपा नेता अश्विनी उपाध्याय और कई हिंदुत्व संगठनों ने 'औपनिवेशिक कानूनों' के खिलाफ रैली बुलाई थी।

ट्विटर पर बिजनौर पुलिस ने जवाब दिया है कि वह दोनों वीडियो की जांच कर रहे हैं।

इसी कड़ी में जंतर-मंतर हेट स्पीच मामले के एक अन्य आरोपी और सुदर्शन वाहिनी के प्रमुख विनोद शर्मा उर्फ आजाद विनोद ने अपने समूह के लोगों के साथ फिल्म देखने के बाद कहा, 'अहिंसा परमो धर्म: जीवन की कस्तूरी है। यदि दुष्ट नहीं मानें तो हिंसा बहुत जरूरी है।'

वायरल हो रहे इन संदेशों और वीडियो में जो बात मुख्य है वो है मुस्लिमों को लेकर भय उपजाना और हिंदुओं में यह नफरत भरना कि अगर हिंदू नहीं जागे तो जो कश्मीर में हुआ वही पूरे देश में दोहराया जाएगा। जंतर-मंतर पर हुई नारेबाजी के मामले में गिरफ्तार हुए कई लोग, जो फ़िलहाल जमानत पर हैं, इसी तरह के संदेशों का प्रचार कर रहे हैं और फिल्म के सहारे मुस्लिमों के खिलाफ हिंसा भड़का रहे हैं।

### 'लव जिहाद'

कुछ लोगों ने फिल्म के प्रचार को लेकर एक अलग ही तरह का बीड़ा उठा लिया है। आजाद विनोद द कश्मीर फाइल्स के टिकट स्पॉन्सर कर रहे हैं। एक फेसबुक पोस्ट में उन्होंने लिखा कि वे 18-30 साल की कम से कम 200 हिंदू महिलाओं को फिल्म दिखाना चाहते हैं, जिससे वे 'लव जिहाद' के बारे में जागरूक हो सकें।

14 मार्च को उन्होंने दावा किया कि उन्होंने दिल्ली के

रोहिणी के जी3एस सिनेमा में 150 हिंदू औरतों को यह फिल्म दिखाई। फिल्म के बाद दर्शकों को संबोधित करते हुए उन्होंने मुस्लिमों का डर दिखाया। फिल्म के बारे में बोलते हुए उन्होंने कहा, 'यह हमारा भूतकाल था, लेकिन अगर आप लोगों ने इन्हें नहीं समझा तो यह हमारा भविष्य होगा।'

सिनेमा हॉल के बाहर उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि 'वे अपने आसपास की कम से कम एक हिंदू महिला को फिल्म का टिकट गिफ्ट में दें ताकि वे इन सुअरों के लव जिहाद के चक्कर में न फंसें।'

18 मार्च को सुदर्शन वाहिनी ने मध्य प्रदेश के बड़वानी में कथित तौर पर सौ से अधिक हिंदू महिलाओं के लिए टिकट खरीदी। विनोद शर्मा ने इस बारे में अपने फेसबुक एकाउंट पर लिखा, 'आने वाले समय में यदि हिंदू समाज सेकुलरिज्म नहीं छोड़ता है तो कश्मीर जैसी घटनाएं हमारे आसपास भी घट सकती हैं।'

इसी तरह साल 2021 में दिल्ली के उत्तम नगर में मुस्लिम वेंडरों के खिलाफ हुई हिंसा से पहले नफरत भरे भाषण देने वाले हिंदुत्व नेता स्वामी जितेंद्रानंद सरस्वती ने भी फिल्म देखने के बाद दर्शकों को संबोधित करते हुए 'लव जिहाद' का राग अलापा।

जितेंद्रानंद ने कहा, 'जैसे कोरोना के वायरस से दूर रहना है, वैसे ही इनसे दूर रहना। ये नाम बदलकर भी आ जाते हैं। कोई सलमान सुरेश बन जाएगा, रहमान रमेश बन जाएगा, फिर हमारी बहन-बेटियों से लव जिहाद करते हैं।' उन्होंने यह भी कहा कि 'अपनी रक्षा के लिए भोलेनाथ का त्रिशूल भी उठा लो।'

विनोद द्वारा साझा किए गए एक अन्य वीडियो में थिएटर के अंदर जितेंद्रानंद की मौजूदगी में उनका एक सहयोगी कहता नजर आता है, 'अगर हम नहीं जागे तो मध्य प्रदेश क्या, बड़वानी में भी यही स्थिति होगी? हमें क्या करना है, हमें हथियार नहीं उठाना है, बस दो काम करना है, हम तय कर लें कि न तो हम हमारा कबाड़ किसी जिहादी को देंगे, न ही किसी जिहाद वाले से खरीदी करेंगे। इनकी आर्थिक रीढ़ की हड्डी हम तोड़ देते हैं। नहीं तो आने वाली परिस्थिति में जैसे हम ये फिल्म देखने आए हैं, वैसे पूरा विश्व भारत की फिल्म देखने आएगा।'

सुरेश राजपूत उर्फ 'हिंदू शेर बाँय' एक और हिंदुत्व इन्फ्लुएंसर हैं। यति नरसिंहानंद के इस शिष्य द्वारा अपने चैनल पर नियमित तौर पर हिंसा, बलात्कार और हत्या के आह्वान प्रसारित किए जाते हैं और कट्टरपंथी भाषणों के चलते उनका फेसबुक एकाउंट और यूट्यूब चैनल सस्पेंड भी किया जा चुका है।

सुरेश ने भी फिल्म के रिलीज होने के बाद नफरत भरे वीडियो अपलोड किए। एक वीडियो में वो कॉमेडियन कपिल

शर्मा द्वारा फिल्म को कथित तौर पर प्रमोट न करने को लेकर उन पर निशाना साधते हुए कहते हैं, 'मुझे इस पर और इसकी मां पर शर्म आती है कि कैसे बेटे को जन्म दिया है, मुझे शर्म आती है कहते हुए कि यह किसी ब्राह्मण का बीज हो सकता है।'

एक अन्य वीडियो में वह एआईएमआईएम सांसद असदुद्दीन ओवैसी के संसद में दिए गए भाषण कि कुछ सेकेंड की क्लिप दिखाते हुए बेहद अभद्र भाषा का इस्तेमाल करते नजर आते हैं। वे आगे कहते हैं, 'इस फिल्म में भाजपा और नरेंद्र मोदी जी का पूरा-पूरा हाथ है, और कुछ बड़ा जरूर होवेगा। कुछ बड़ा होगा मोदी जी तरफ से, इसीलिए पहले सबकी आंखें खोलनी जरूरी थीं, जो उन्होंने खोल दीं।'

उनके फेसबुक एकाउंट पर पोस्ट किए गए एक और वीडियो में वे नफरत की राजनीति और बहुसंख्यकवाद की आलोचना करने वाले वायरल गीत गाने के लिए गायिका नेहा सिंह राठौर को लेकर सांप्रदायिक और भेद टिप्पणियां करते दिख रहे हैं। वे 'सेकुलरिज्म के कीड़े और सेकुलर हिंदुओं' को कश्मीरी पंडितों के पलायन का जिम्मेदार बताते हैं।

बीते साल त्रिपुरा में हुई सांप्रदायिक हिंसा के बाद राजपूत ने हिंदुओं को त्रिपुरा में 'सही से दीवाली' मनाने के लिए खासा सराहा था। अपने कुछ वीडियो में सुरेश महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा की धमकी देते हुए भी दिखे हैं और एक बार उन्होंने दिल्ली के मुख्यमंत्री को जान से मारने की धमकी भी दी थी।

### **कश्मीरी पंडितों के पलायन के बदले इस्लाम को प्रतिबंधित करने की अपील**

एआईयूडीएफ प्रमुख बदरुद्दीन अजमल द्वारा द कश्मीर फाइल्स पर रोक लगाने पर प्रतिक्रिया देते हुए हिंदुत्व नेता आनंद स्वरूप ने सरकार से तत्काल 'इस्लाम और कुरान पर प्रतिबंध लगाने' की मांग की। एक वीडियो में वे कहते हैं, 'जब तक भारत की भूमि पर इस्लाम रहेगा, कुरान रहेगी, ये कश्मीर जैसी घटनाएं करते रहेंगे।'

दिसंबर 2021 में हरिद्वार में हुई 'धर्म संसद' में आनंद स्वरूप प्रमुख वक्ताओं में से एक थे, जहां उन्होंने उनकी मांगें पूरी न होने पर 'भारत सरकार के खिलाफ युद्ध छेड़ने' की बात कही थी।

अपने हालिया वीडियो में उन्होंने बदरुद्दीन अजमल को चेताते हुए कहा कि उन्हें इस्लाम छोड़कर 'घर वापस' हो जाना चाहिए, इसी में उनकी भलाई है। उन्होंने कहा, 'नहीं तो भारत के

हिंदू राष्ट्र होने के बाद जिस प्रकार तुमको मुसलमान बनाया गया, वैसे ही जनता तुम्हें हिंदू बनाने का कार्य करेगी।'

### **सांप्रदायिक सौहार्द बिगड़ा**

द न्यू इंडियन एक्सप्रेस के अनुसार, दिल्ली पुलिस ने सभी जिलों के डीसीपी को द कश्मीर फाइल्स फिल्म के मद्देनजर शहर के मिश्रित आबादी वाले क्षेत्रों में कानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए पर्याप्त सुरक्षा इंतजाम करने के लिए कहा था।

उनके पत्र में कहा गया, '2020 के पूर्वोत्तर दिल्ली दंगों के बाद से दिल्ली में सांप्रदायिक स्थिति अभी भी नाजुक है। हाल ही में हिजाब/बुर्का विवाद और हरिद्वार धर्म संसद के मुस्लिम समुदाय के खिलाफ नफरत भरी भाषा का इस्तेमाल हुआ, ऐसे में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि एक छोटी-सी घटना भी दोनों समुदायों के बीच सांप्रदायिक तनाव पैदा कर सकती है और कानून व्यवस्था की स्थिति को प्रभावित कर सकती है।'

17 मार्च को देहरादून के जोगीवाला इलाके में एक मुस्लिम धर्मस्थल को कथित तौर पर अपवित्र करने के आरोप में हरेंद्र कंडारी नाम के शख्स को गिरफ्तार किया गया था। कंडारी पर आईपीसी की धारा 153 ए, 295 और 427 के तहत 'धर्मों के बीच बैर को बढ़ावा देने, धर्म का अपमान करने के इरादे से पूजा स्थल को अपवित्र करने और नुकसान पहुंचाने वाली हरकत' करने के लिए मामला दर्ज किया गया है।

जब द वायर ने नेहरू कॉलोनी थाने से संपर्क किया, तो ड्यूटी पर मौजूद एक अधिकारी ने कहा कि जांच अधिकारी छुट्टी पर है और कंडारी को जेल भेज दिया गया है। उनके पास इस बारे में और जानकारी नहीं है।

इससे पहले, सब-इंस्पेक्टर दीपक गौरोला ने टाइम्स ऑफ इंडिया को बताया था कि पूछताछ के दौरान कंडारी ने कहा कि द कश्मीर फाइल्स में कश्मीरी पंडितों के खिलाफ हिंसा के दृश्य देखकर वह 'गुस्से' में थे।

फिल्म की रिलीज के लगभग चार हफ्ते बाद एक स्पष्ट पैटर्न दिखता है कि इसका इस्तेमाल नफरत को बढ़ावा देने और मुसलमानों के खिलाफ हिंसा भड़काने के लिए किया जा रहा है। और इस अभियान का नेतृत्व उन हिंदुत्व कार्यकर्ताओं और संगठनों द्वारा किया जा रहा है जिनका इस तरह के उकसावे देने का एक लंबा इतिहास रहा है।

साभार : [thewirehindi.com](http://thewirehindi.com)

---

### **इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : [prakashan.isd@gmail.com](mailto:prakashan.isd@gmail.com), [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com) / वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in)

केवल सीमित वितरण के लिए